# खण्ड 2

# ध्वन्यालोकः (आनन्दवर्द्धन) प्रथम एवं चतुर्थ उद्योत

# खण्ड 2 परिचय

यह खण्ड ध्वन्यालोक के प्रथम एवं चतुर्थ उद्योत के वर्णनों से सम्बद्ध है। इसमें कुल सात इकाइयॉ हैं जिनके शीर्षक इस प्रकार हैं–

इकाई 7– प्रथम उद्योत – कारिका 1 से 4
इकाई 8– प्रथम उद्योत – कारिका 5 से 10
इकाई 9– प्रथम उद्योत – कारिका 11 से 14
इकाई 10– प्रथम उद्योत – कारिका 15 से 19
इकाई 11– प्रथम उद्योत – कारिका 1 से 6
इकाई 12– प्रथम उद्योत – कारिका 7 से 11
इकाई 13– प्रथम उद्योत – कारिका 12से 17

उपर्युक्त इकाइयों में काव्य की आत्मा के रूप में ध्वनि और उसके विषय में अभाववादी मत, लक्षणावादी मत का प्रारम्भिक वर्णन किया गया है। प्रतीयमान अर्थ के साथ–साथ ध्वनि के लक्षण को सिद्ध करने के लिए सम्पूर्ण वर्णनों का समावेश, चतुर्थ उद्योत तक में हुआ है। आपके अध्ययन के लिए चतुर्थ उद्योत की कारिका 1 से 17 तक के वर्णनों को समाहित करते हुए ध्वनि के विषय में विस्तार से जानकारी देने के लिए विद्वान लेखकों द्वारा प्रयास किया गया है। इस खण्ड के अध्ययन के बाद आप ध्वनि सम्बन्धी सिद्धान्तों को विस्तार से बात सकेगें।

# इकाई 7 (ध्वन्यालोकः) प्रथम उद्योत, कारिका 1 से 4 तक

## इकाई की रूपरेखा



## 7.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप

- ध्वन्यालोक ग्रन्थ में वर्णित विषय–वस्तु को जान सकेंगे।
- ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्धन के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व से परिचित हो सकेंगे।
- साहित्यशास्त्रीयग्रन्थों में ध्वन्यालोक के वैशिष्ट्य एवं महत्त्व को बताने में समर्थ हो सकेंगे।
- ध्वनिसिद्धान्त के प्रादुर्भाव के बारे में जान सकेंगे।
- आनन्दवर्धन से पूर्ववर्ती आचार्यो के ध्वनिसंबन्धी–चिन्तन से परिचित हो सकेंगे।
- वाच्य एवं प्रतीयमान अर्थ के पार्थक्य को बता सकेंगे।
- ध्वनिविरोधी मतों को विश्लेषण करने में समर्थ हो सकेंगे।

## 7.1 प्रस्तावना

भरतमुनि विरचित नाट्यशास्त्र से लेकर आधुनिक काव्यशास्त्र पर्यन्त संस्कृत साहित्यशास्त्र की एक सुदीर्घ परम्परा दृष्टिगोचर होती है। साहित्यशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्यों में भरत– भामह– दण्डी– उद्भट– वामन– रुद्रट– आनन्दवर्धन– कुन्तक– महिमभट्ट– राजशेखर– धनिक– धनञ्जय– अभिनवगुप्त– भोजराज– क्षेमेन्द्र– मम्मट– शारदातनय– विश्वनाथ– रामचन्द्र–गुणचन्द्र– सिङ्गभूपाल– पं.राजजगन्नाथ– विश्वेश्वरप्रभृति अग्रगण्य हैं। इनमें से ध्वन्यालोकग्रन्थ के कर्ता कश्मीर निवासी श्रीमान् राजानक आनन्दवर्धन का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है। इन्हें कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा से 'राजानक'नाम की सम्मानित उपाधि मिली थी। मूलतः वे कश्मीर के भट्ट ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम भट्टनोण था, यह बात कल्हण विरचित राजतरङ्गिणी ग्रन्थ से भी निश्चित होती है।

आनन्दवर्धन का समय नवीं शताब्दी ईसा का मध्यभाग अर्थात् 850 ई. के आस–पास माना जाता है। राजतरङ्गिणी के अनुसार वे अवन्तिवर्मा के राज्य के प्रतिष्ठित कवियों में से थे। यथा–

**मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।**
**प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः।।**

अवन्तिवर्मा कश्मीर के महाराज थे और उनका राज्यकाल सन् 855 ई. से 883 ई. तक था। इसके अतिरिक्त अन्य सूत्रों के आधार पर भी आनन्दवर्धन का काल निर्धारण सहज रूप से किया जा सकता है। जैसे – आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में उद्भट व वामन के मत को उद्धृत किया है, और दूसरी ओर राजशेखर ने आनन्दवर्धन का उद्धरण दिया है, इससे यह स्पष्ट होता है कि वे उद्भट के पश्चात अर्थात् 800 ई. के बाद और राजशेखर के समय 900 ई. के पूर्व हुए थे। अतएव आनन्दवर्धन का समय नवीं शताब्दी ई. का मध्यभाग अर्थात् 850 ई. के आसपास माना जा सकता है।

आपके पाठ्यक्रम में ध्वन्यालोक के प्रथम एवं चतुर्थ उद्योत निर्धारित हैं। जिसमें से प्रथम उद्योत के प्रारम्भिक कारिका– 01 से 04 तक का अध्ययन आप इस इकाई में करेंगे। इन चार कारिकाओं में आनन्दवर्धनाचार्य के द्वारा ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना, ध्वनिविरोधी मतों अभाववाद, भाक्तवाद एवं अनिर्वचनीयतावाद की विवेचना, वाच्य एवं प्रतीयमानार्थ का स्वरूप निरूपण, वाच्य से प्रतीयमान का भिन्नत्व निरूपण प्रभृति विषय निर्धारित हैं जिनका अध्ययन विस्तारपूर्वक आप इस इकाई में करेंगे।

### 7.2.1 ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार परिचय

**आनन्दवर्धन का कर्तृत्व–**

साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में अपनी बहुमुखी प्रतिभा, अद्वितीय पाण्डित्य गम्भीर विवेचना एवं नवीन चिन्तन के लिए वे सदैव विश्रुत रहेंगे। व्याकरणशास्त्र में जो स्थान आचार्य पतञ्जलि का है और वेदान्तशास्त्र में जो स्थान आचार्य शङ्कर का है साहित्यशास्त्र में वहीं स्थान आचार्य आनन्दवर्धन का है। उन्हें साहित्यशास्त्र का युगप्रवर्तक आचार्य माना जाता है। ध्वन्यालोक जैसे महनीयग्रन्थ की रचना कर उन्होंने साहित्यशास्त्र की दशा एवं दिशा को ही परिवर्तित कर दिया। अपनी प्रखर एवं मौलिक मेधा तथा प्रौढ पाण्डित्य के द्वारा साहित्यशास्त्र में ध्वनिसिद्धान्त की जिस तार्किक रीति से स्थापना

की वह सर्वथा स्तुत्य है। साहित्यशास्त्र के प्रकाण्ड आचार्य होने के साथ–साथ वे सहृदयकवि एवं महान् दार्शनिक भी थे। ध्वन्यालोक की लेखनशैली में दार्शनिकता का अद्भुत समावेश है। एक अनुभवी एवं गम्भीर दार्शनिक की भाँति उन्होंने ध्वन्यालोक में स्वयं अनेक सम्भावित प्रश्नों तथा ध्वनिविरोधी आचार्यों के मतों को उपस्थापित करते हैं, और पुनः सभी मत–मतान्तरों का जिस दार्शनिक शैली में उत्तर देते हैं वह अपने में विलक्षण है।

उनकी प्रमुख रचनाओं में ध्वन्यालोक, अर्जुनचरित, विषमबाणलीला, देवीशतक, तत्त्वालोक प्रभृति प्रमुख हैं। इनमें अर्जुनचरित और विषमबाणलीला के अनेक संस्कृत–प्राकृत छन्द 'ध्वन्यालोक' में उद्धृत हैं। 'देवीशतक' में यमक, श्लेष, चित्रबन्ध आदि का चमत्कार दिखाया गया है। 'तत्त्वालोक' एक दर्शनग्रन्थ है, अभिनवगुप्ताचार्य ने ध्वन्यालोक की लोचनटीका में इन ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

**ग्रन्थपरिचय–**

ध्वन्यालोक ग्रन्थ चार उद्योत में विभक्त है जिसका मुख्यप्रतिपाद्य ध्वनिसिद्धान्त है। आनन्दवर्धन ने इस ग्रन्थ में काव्यसमालोचना के लिए एक सार्वभौम सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। ग्रन्थ के प्रथम उद्योत में काव्यस्यात्मा ध्वनि की स्थापना , ध्वनिविषयक विप्रतिपत्तियों में अभाववाद, भाक्तवाद एवं अनिर्वचनीयतावाद का विश्लेषण, ध्वनिनिरूपण का प्रयोजन, ध्वनिसिद्धान्त की भूमिका, वाच्य एवं प्रतीयमान अर्थ का निरूपण करते हुए प्रतीयमान की श्रेष्ठता का निर्धारण, अभाववाद के निमित्त विकल्पों का खण्डन, प्रतीयमान रस ही काव्य की आत्मा, ध्वनि का स्वरूप निर्धारण, विभिन्न अलङ्कारों में ध्वनि के अन्तर्भाव का निषेध, ध्वनि के मुख्य दो भेदों का निरूपण , भाक्तवाद के विकल्पों का खण्डन अनिर्वचनीयतावाद का खण्डन प्रभृति विषय वर्णित हैं।

द्वितीय उद्योत में ध्वनिकाव्य के भेदों का निरूपण, रसवदादि अलङ्कार से भिन्न ध्वनि का विषय निर्देश, गुण और अलङ्कारों के स्वरूप का निरूपण करते हुए दोनों के बीच पार्थक्य प्रदर्शन गुणों एवं अलङ्कारों के साथ रसादि की स्थिति, ध्वनि में अलङ्कारनिरूपण की समीक्षा , वस्तुध्वनि एवं अलङ्कार ध्वनि का निरूपण इत्यादि विषय वर्णित हैं।

तृतीय उद्योत में ध्वनि की व्यापकता अर्थात् पदप्रकाशता, वाक्यप्रकाशता, वर्ण, तद्धित, कृदन्त, उपसर्ग प्रत्यय आदि से लेकर प्रबन्ध पर्यन्त ध्वनि की सत्ता का प्रदर्शन संघटना के स्वरू एवं भेदों का निरूपण, गुणों के साथ संघटना का संबन्ध, सुबन्त–तिङन्त प्रभृति अंशो की व्यञ्जकता, रसपरिपाक की चर्चा, रसों के विरोध और अविरोध का निरूपण शान्तरस की स्थिति, गुणीभूतव्यंग्य–काव्य का निरूपण, चित्र काव्य का निरूपण प्रभृति विषयों का विस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है।

चतुर्थ उद्योत में प्रतिभा के आनन्त्य का वर्णन है। प्रतिभाशाली कवि ध्वनि के द्वारा प्राचीन भाव, अर्थ, उक्ति आदि को नूतन चमत्कार प्रदान कर सकते हैं इस तथ्य का सोदाहरण निरूपण किया गया है। महाभारत में शांत रस का अंगी रस के अन्त में वर्तमान कवि अपने पूर्ववर्ती कवि से किस तरह संवाद करता है, इस पक्ष को वर्णित करने के लिए संवाद तत्त्व का विवेचन वर्णित है।

ध्वन्यालोक की प्राचीन एवं प्रसिद्ध टीकाओं में ध्वन्यालोक लोचन तथा चन्द्रिका टीका का नाम विश्रुत है। इनमें से केवल अभिनवगुप्तपादाचार्य विरचित लोचन टीका ही

सम्प्रति उपलब्ध है। चन्द्रिका टीका का नाम भी हम लोचन टीका से ही जान पाते हैं, जैसा कि लोचनकार ने ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत की व्याख्या के अन्त में लिखा है—

**किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि।**
**तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात्।।**

### 7.2.2 मङ्गलाचरणम्

**स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायासितेन्दवः।**
**त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः।।**

प्रसंग— किसी भी ग्रन्थ की निर्विघ्न पूर्णता के लिए तथा पाठकों, अध्यापकों, व्याख्याकारों, समीक्षकों एवं सहृदय सामाजिकों के कल्याण हेतु तथा छात्रों की शिक्षा के लिये कवि , शास्त्रकार तथा टीकाकार अपने काव्यग्रन्थ काव्यशास्त्र—ग्रन्थ या टीका के प्रारम्भ में अपने समुचितेष्टदेवता की आराधना वन्दना या स्तुति मङ्गलाचरण के रूप में करते हैं। संस्कृतशास्त्रों की परम्परानुसार ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण की परिपाटी रही है। संस्कृतग्रन्थों में मङ्गलाचरण के आशीर्वादात्मक नमस्क्रियात्मक तथा वस्तुनिर्देशात्मक त्रिविधरूप प्राप्त होते हैं। उसी परम्परा का परिपालन करते हुए आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण ध्वन्यालोक में प्रस्तुत किया है। जिसमें वे भगवान् विष्णु के विविध अवतारों में से नरसिंहावतार के प्रपन्नार्तिच्छेदक नखों का स्मरण करते हुए, यह आशीर्वाद प्राप्ति की कामना है कि वे नख हम सब की रक्षा करें।

अर्थ— स्वयं अपनी इच्छा से केसरी (नृसिंह) का रूप धारण किये हुए भगवान् मधुरिपु (मधु नामक दैत्य के रिपु भगवान् विष्णु) के स्वच्छ (धवल) अपनी निर्मल कान्ति से इन्दु (चन्द्रमा) को आयासित (खिन्न) करनेवाले तथा प्रपन्न जनों की (शरणागतों की)आर्ति (पीड़ा, दुःख)का छेदन करने वाले (शमन करने वाले) दुःखनाश करने वाले नख आप सब लोगों की रक्षा करें।

इस मङ्गलपद्य में रसध्वनि—वस्तुध्वनि—अलङ्कारध्वनि आदि व्यञ्जित होते हैं। रसध्वनि के रूप में यहाँ वीररस ध्वनित होता है, क्योंकि उत्साह ही वीररस का स्थायी भाव है। वस्तुध्वनि के रूप में नख को करण न बनाकर कर्ता के रूप में उनका निर्देश किया गया है, इससे नखों की अतिशय शक्तिमता ध्वनित होती है। इसके बाद एक और भी वस्तु ध्वनित होती है वह यह कि परमेश्वर को अतिरिक्त करण या साधन की अपेक्षा नहीं इस त्राणरूपी कार्य में उनके अपने शरीर के ही एक तुच्छ साधारण तत्त्व नख ही पर्याप्त है। अलङ्कार ध्वनि का निर्देश करते हुए लोचनकार अभिनवगुप्ताचार्य का कहना है कि एक तो बालचन्द्र को इस बात का खेद है कि उक्त नखों जैसी स्वच्छता उसमें नहीं है। किसी प्रकार यदि इस अंश में समता हो भी जाए तो भी बालचन्द्र को यह बात हमेशा खिन्न करती रहेगी कि ये नख तो प्रपन्न जनों के आर्ति के निवारण करने में समर्थ हैं, पर मैं इसमें समर्थ नहीं हूँ।

यहाँ उपमानभूत चन्द्र से उपमेयभूत नखों के आधिक्य की प्रतीति होने से व्यतिरेक नामक अलङ्कार भी ध्वनित होता है। इस प्रकार उक्त मङ्गलाचरण के पद्य में रस—वस्तु व अलङ्कार ध्वनि को प्रदर्शित किया गया है।

### 7.2.3 ग्रन्थ का प्रयोजन एवं ध्वनिविषयक तीन विप्रतिपत्तियाँ

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय की चर्चा करते हुए ग्रन्थकार प्रसङ्गवश उसका प्रयोजन ध्वनिस्वरूपज्ञान तथा ध्वनिस्वरूप ज्ञज्ञन का प्रयोजन सहृदयमनःप्रीति का निर्देश किया है। ध्वन्यालोक ग्रन्थ का प्राधान्यतः अभिधेय या प्रतिपाद्य 'ध्वनि'तत्त्व है, ध्वनि के स्वरूप का ज्ञान प्रयोजन है तथा इस प्रयोजन का प्रयोजन सहृदयजनों के मन की प्रीति या प्रसन्नता है यथा–

### 7.2.4 विप्रतिपत्तियों का विश्लेषण

**काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व–**

> **स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।**
> **केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमुचुस्तदीयं**
> **तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्।।**

अर्थ– काव्य के सारभूत जिस तत्त्व को विद्वान् लोग ध्वनि नाम से कहते आये हैं। कुछ अन्य विद्वान् लोग उसका (ध्वनि तत्त्व का) अभाव कहा है। दूसरे विद्वान् लोग उसे भाक्त (गौण, लक्षणागम्य) कहते है, और कुछ अन्य विद्वान् जन उस ध्वनि के तत्त्व को (रहस्य को) वाणी का अविषय (अवर्णनीय, अनिर्वचनीय कहा अत एव ध्वनि के विषय में इन नाना विप्रतिपत्तियों के होने के कारण उनका निराकरण कर, तथा ध्वनि की स्थापना के द्वारा) सहृदयजनों (काव्यमर्मज्ञ जनों) के मन की प्रीति के लिए प्रसन्नता के लिए हम उस ध्वनि के स्वरूप का निरूपण करते हैं।

इसी तथ्य को ग्रन्थकार वृत्तिभाग में और विस्तार से स्पष्ट करते हुए कहते हैं–

**''बुधैः काव्यतत्त्वविदि्भः, काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यक् आसमन्ताद्, म्नातः, प्रकटितः, तस्य सहृदयजनमनःप्रकाशमानस्याप्यभावमन्ये जगदुः। तदभाववादिनां चामी विकल्पाः संभवन्ति।''**

बुधैः अर्थात् काव्य के मर्मज्ञ विद्वानों ने जिस सारभूत तत्त्व को 'ध्वनि' यह नाम दिया, और परम्परा से जिसको बार–बार प्रकाशित किया है, भली प्रकार से विशदरूप से अनेक बार प्रकट किया है, सहृदयजनों मन में प्रकाशमान भी उस (ध्वनि) का कुछ विद्वान् लोग अभाव कहते हैं, अर्थात् काव्य की आत्मा के रूप में उन्हें ध्वनितत्त्व मान्य नहीं था, अतः वे ध्वनि की सत्ता के विरुद्ध थे अर्थात् ध्वनि का अभाव मानते थे।

### 7.2.5 अभाववाद एवं उनके विकल्पों का निरूपण

उन अभाववादियों के भी मुख्यतया तीन अवान्तर विकल्प हो सकते हैं जैसा कि ध्वनिकार ने निरूपित किया है–

**प्रथमविकल्प–तत्र केचिदाचक्षीरन् शब्दार्थशरीरन्तावत् काव्यम्। तत्र शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धम एव। अर्थगताश्चोपमादयः। वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः ता अपि गताः श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः। तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति?**

इस पक्ष का कहना है कि शब्द और अर्थ सम्मिलित रूप से काव्य है इनमें चारुता (सौन्दर्य, शोभा) का आधन दो प्रकार से हो सकता है– 1. स्वरूप में रहने वाली चारुता और 2. संघटना में रहनेवाली चारुता। वहाँ शब्द की स्वरूपनिष्ठ चारुता शब्दालङ्कार से निष्पन्न होती है, अर्थ की स्वरूपनिष्ठ चारुता उपमा आदि अर्थालङ्कारों से निष्पन्न होती है। इन शब्द–अर्थ के संघटनाश्रित चारुता माधुर्यादि गुणों से निष्पन्न होती है। वृत्तियों और रीतियोंसे भी काव्य में चारुता सम्पन्न हो सकती है, परन्तु वे वृत्ति व रीति, गुणालङ्कार से भिन्न नहीं हैं।

वृत्तियाँ तीन हैं– परुषा, उपनागरिका और कोमला, ये तीनों ही अनुप्रास के प्रकार है। इसी प्रकार वैदर्भी, पाञ्चाली व गौडी रीतियाँ भी माधुर्यादि गुणों की ही समुदाय रूप है फलतः वृत्ति व रीति अलङ्कार व गुण से भिन्न नहीं है, ये ही सब काव्य के चारुत्व के हेतु हैं। परन्तु उन सबसे भिन्न यह ध्वनि कौन सा (नया) पदार्थ है? अतः ध्वनिनामक तत्त्व को काव्य में चारुत्व का निष्पादक मानना नितान्त असङ्गत है, फलतः ध्वनि नामक पदार्थ की कोई सत्ता नहीं है।

द्वितीय विकल्प– अभाववाद का दूसरा विकल्प निम्नलिखित प्रकार है–

**अन्ये ब्रूयुः नास्त्येव ध्वनिः। प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहानेः। सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्। न चोक्तप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य तत्संभवति। न च तत्समयान्तःपातिनः सहृदयान् कांश्चित् परिकल्प्य तत् प्रसिद्धया ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते।**

इस पक्ष का कहना है कि काव्य तो प्रसिद्ध प्रस्थानयुक्त है, अर्थात् काव्य की एक निश्चित परम्परा है, जिसे प्रस्थान कहते है, वह है सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने वाली शब्दार्थयुगल की मनोहर योजना। इसके अतिरिक्त तो अन्य कोई भी काव्यमार्ग निश्चित नहीं है। अर्थात् गुणालङ्कार से सुसंस्कृत शब्दार्थगण शरीर होतो काव्य है। इसी में सहृदयों की भी सम्मति है। ध्वनि के विषय में तो ऐसा कोई सर्वसम्मत सिद्धन्त नहीं है। अर्थात् कतिपय सहृदयों के सम्मत होने पर की ध्वनि सम्पूर्ण विद्वत्समाज का हृदयावर्जन तो नहीं कर सकता है। अतः ध्वनि के विषय में भी कुछ भी कहना निरर्थक ही है।

तृतीय अभाववादी– अभाववाद का तृतीय विकल्प निम्नलिखित प्रकार से है–

**''पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयुः। न संभवत्येवध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित्। कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तेष्वेव चारुत्वहेतुष्वन्तर्भावात्। तेषामन्यतमस्यैव वा अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे यत्किञ्चन कथनं स्यात्।**

**किं च, वाग्विकल्पानामानन्त्यात् संभवत्यपि वा कस्मिंश्चित् काव्यलक्षणविधयिभिः प्रसिद्धैरप्रदर्शिते प्रकारलेशे, ध्वनिर्ध्वनिरिति यदेतदलीकसह्यदयत्वभावनामुकलितलोचनैर्नृत्यते, तत्र हेतुं न विद्मः। सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलंकारप्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च। न च तेषामेषा दशा श्रूयते। तस्मात् प्रवादमात्रं ध्वनिः। न त्वस्य क्षेदक्षमं तत्वं किंचिदपि प्रकाशयितुं शक्यम्।**

इस पक्ष का कहना है कि ध्वनि नाम का कोई नवीन पदार्थ हो ही नहीं सकता है। यदि ध्वनि किसी प्रकार की कमनीयता का कारण है भी, तो वह उक्त काव्य में चारुत्व

उत्पन्न करने वाले जितने साधन हैं उन्हीं के भीतर किसी मं ध्वनि का भी अन्तर्भाव हो जाएगा। अतः ध्वनि नाम की कोई विलक्षण वस्तु नहीं मानी जा सकती है। वाक्–विकल्पों का अर्थात् शब्द और अर्थ के प्रकारों का वैचित्र्य अनन्त है, अर्थात् शब्दार्थ के वैचित्र्य की कोई सीमा नहीं है। कितने ही आचार्यों के द्वारा शब्दार्थ की विचित्रता का प्रकाशन नाना प्रकार से किया गया है, प्रकाशित कर रहे है। इन्हीं विचित्रताओं में से एक विचित्रता का नाम ध्वनि किया जा सकता है।

अर्थात् ध्वनि की सत्ता को स्वतन्त्र रूप से मानना सर्वथा युक्तियुक्त नहीं है। फलतः गुण या अलङ्कार के किसी अप्रदर्शित लेश विशेष प्रकार में ही इसका अन्तर्भाव हो सकता है। ध्वनि यह इन तीनों अवान्तर विकल्पों में सूक्ष्म भेद इस प्रकार है– 1. प्रथम पक्ष के अनुसार ध्वनि नामक कोई तत्त्व ही नहीं है। 2. द्वितीय पक्ष के अनुसार ध्वनि प्रसिद्ध सर्वसम्मत काव्यतत्त्व नहीं है, भले ही कतिपय विद्वान् इसकी सत्ता को स्वीकार करें, परन्तु सर्वसम्मत नहीं है। 3. तृतीय पक्ष के अनुसार यदि ध्वनि के चारुत्व का हेतु मान भी लिया जाय तो किसी गुण या अलङ्कार के प्रकार विशेष में ही इसका अन्तर्भाव हो सकता है।

इस सन्दर्भ में किसी अन्य (ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन के समकालीन मनोरथ कवि) का श्लोक इस प्रकार है–

**तथा चान्येन कृत एवात्र श्लोकः–**

> **यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनःप्रह्लादि सालंकृति,**
> **व्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत् ।**
> **काव्यं तद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसन् जडो,**
> **नो विद्मो अभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः।।**

जिसमें अलंकारयुक्त, मन को आह्लादित करने वाला कोई वर्णनीय अर्थतत्व नही है । जो चातुर्य से युक्त सुन्दर शब्दों से विरचित नही हुआ है और जो वक्रोक्ति से शून्य है। इस प्रकार जो शब्दालंकार, अर्थालंकार एवं माधुर्यादि गुणों से सर्वथा शून्य है, उसकी यह ध्वनि से युक्त काव्य है यह कहकर प्रीतिपूर्वक प्रशंसा करनेवाला मूर्ख, किसी बुद्धिमान् के पूछने पर मालूम नहीं ध्वनि का क्या स्वरूप बतायेगा ।

### 7.2.6 भाक्तवाद का निरूपण

ध्वनिविरोधिमतों में अभाववाद के पश्चात् ध्वनिकार ने भाक्तवाद (लक्षणावाद) के मतों को वर्णित किया है। मूल कारिका में 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' से इस मत को उद्धृत किया गया है। जहाँ अभाववादियों के मतों की संभावना के कारण उसे 'जगदुः' इस लिट्लकार के द्वारा उपस्थापित किया गया था, वही 'भाक्तवाद' के मत को 'आहुः' इस वर्तमान कालिक क्रिया से अभिव्यक्त किया है और उसका कारण का स्पष्ट है कि भक्तिवादियों के मत साहित्यशास्त्रीयग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। भक्ति या लक्षणावादी आचार्यों का कहना है कि ध्वनि का इसी लक्षणा में या लक्षणा का भेद जो गुणवृत्ति है उसी में अन्तर्भाव हो जाएगा। अतः ध्वनि नामक पृथक् तत्त्व मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्राचीन आचार्य लक्षणावृत्ति को भक्ति शब्द से भी कहते थे।

इसकी व्युत्पत्ति अभिनवगुप्ताचार्य ने लोचनटीका में इस प्रकार दी है–**भज्यते= सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यते इति भक्तिर्धर्मोऽभिध्येयेन सामीप्यादिः, तत आगतो**

**भाक्तो लाक्षणिकोऽर्थः।** सेवार्थक भज् धातु से क्तिम् प्रत्यय द्वारा भक्तिशब्द निष्पन्न होता है। यहाँ भज्यते का अर्थ है प्रसिद्ध होने के कारण जिसकी उत्प्रेक्षा–सम्भावना की जाय वह भाक्ति है अर्थात् वाक्यार्थ के द्वारा तटादि का सामीप्यादि ध्र्म उत्प्रेक्षित होता है। उस सामीप्यादि के निमित्त से प्रतीत होनेवाला लाक्षणिक अर्थ ही भाक्त है, अर्थात् लक्ष्यार्थ।

यह लक्षणा दो प्रकार की होती है शुद्धा और गौणी लक्षणा। मीमांसक लोग गौणीवृत्ति को लक्षणा से भिन्न मानते हैं, पर यहाँ भक्ति शब्द से दोनों का ग्रहण हो जाएगा। भक्ति का एक अर्थ (मुख्यस्य चार्थस्य भङ्गो भक्तिरित्येवं मुख्यार्थबाध निमित्तं प्रयोजनमिति) भङ्ग भी है जिसका अर्थ तोड़ना है अर्थात् मुख्य अर्थ का जहाँ भङ्ग किया जाय– मुख्यार्थस्य भङ्गो भक्तिः। अर्थात् मुख्यार्थबाध। मुख्यार्थबाधित होने के पश्चात् उसी से फिर किसी नवीन अर्थ की कल्पना की जाय, इस नवीन कल्पित अर्थ को भी हम भाक्त कह सकते हैं भक्ति का एक अर्थ है श्रद्धादिशय, किसी विशेष प्रयोजन में श्रद्धा होने पर ही लक्षणा की जाती है–**भक्तिः प्रतिपाद्ये सामीप्यतैक्षयादौ श्रद्धातिशयः। तां प्रयोजनत्वेनोद्दिश्य तत आगतो भाक्त इति गौणो लाक्षणिकश्च।**

भक्ति का तीसरा अर्थ है सेवा अर्थात् पदार्थ के साथ सम्बन्ध रखने वाला सामीप्यादि नवीन अर्थ। इन तीनों अर्थों को लेकर भक्ति शब्द का अर्थ साहित्यशास्त्र में लक्षणा किया जाता है।

भक्तिवादियों का कहना है कि यद्यपि स्पष्ट रूप से प्राचीन आचार्यों ने ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव नहीं किया है, परन्तु उन्होंने काव्य में अमुख्य वृत्ति अर्थात् लक्षणा या गुणवृत्ति का प्रतिपादन करते हुए ध्वनितत्त्व को प्राथमिकता ही दी है, अतः ये आचार्य गुणवृत्ति नहीं किया न ध्वनितत्त्व को प्राथमिकता ही दी है, अतः ये आचार्य गुणवृत्ति लक्षणा के अन्दर ध्वनि का समावेश करते थे। जैसा कि ध्वनिकार ने कहा है –

**''भाक्तमाहुस्तमन्ये। अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं... काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः। यद्यपि च ध्वनिशब्दसङ्कीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृतिरन्यो वा न कश्चित्प्रकारः प्रकाशितः, तथापि अमुख्यवृत्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक्स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम् .......... भाक्तमाहुस्तमन्ये'इति।**

## 7.2.7 अनिर्वचनीयतावाद का निरूपण

ध्वनि विरोधी मतों में से तृतीय मत अनिर्वचनीयता वाद है। जिसे मूल कारिका में ध्वनिकार ने 'केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयम्' के द्वारा उपस्थापित किया है।

अनिर्वचनीयतावादी आचार्यों के मत में ध्वनितत्त्व का निर्वचन वाणी द्वारा नहीं हो सकता है, यह तो स्वतः अनुभूति का ही विषय है। परन्तु इसका लक्षण स्वरूपादि का निर्वचन शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता है, यह तो केवल सहृदयहृदसंवेद्य ही है। जैसे–

**केचित्पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः तेनैवंविधसु विमतिषु स्थितासु सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूमः।**

अर्थ– लक्षणनिर्माण में अप्रगल्भबुद्धि किन्हीं (तीसरे वादी) ने ध्वनि के तत्त्व को केवल सहृदय–हृदयसंवेद्य और वाणी के परे (अलक्षणीय, अनिर्वचनीय) कहा है।

अतः इस प्रकार के मतभेदों विमतियों के होने के कारण सहृदयों के हृदयह्लाद के लिए हम उसका स्वरूप प्रतिपादन करते हैं।

### 7.2.8 ध्वनिनिरूपण का प्रयोजन

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोकग्रन्थ के प्रथम उद्योत की पहली कारिका तथा कारिका की वृत्तियों में ध्वनिविरोधि तीन मतो या वादों (अभाववाद, भाक्तवाद एवं अनिर्वचनीयतावाद) को विकल्प सहित विस्तार से निरूपित किया है। ध्वन्यालोक का मुख्यप्रतिपाद्य है ध्वनि के स्वरूप का निरूपण कर ध्वनिसिद्धन्त की स्थापना करना। अतः ध्वनि के शब्दार्थ में सभी संभावित विमतियाँ को उपस्थापित करने के पश्चात् के ध्वनिनिरूपण का प्रयोजन बताते हुए कहते है कि–

**''तेनैवंविधासु ........... प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते।''**

अर्थ– ध्वनि के विषय में नाना प्रकार के विमतियों एवं विरोधी मतों के होने के कारण सहृदयों के मनस्तोष हेतु ध्वनि का स्वरूप विवेचन परमावश्यक है। उस ध्वनि का स्वरूप समस्त सत्कवियों के काव्यों का परम रहस्यभूत, अत्यन्त सुन्दर है, जो प्राचीन काव्यलक्षणकारों की सूक्ष्मतर बुद्धि द्वारा भी उन्मीलित नहीं हुआ है, और जिसका रामायण, महाभारत प्रभृति लक्ष्यग्रन्थों में सर्वत्र उसके प्रसिद्ध व्यवहार को परिलक्षित करनेवाले सहृदयों के मन में आनन्द (ध्वनितत्त्व के निर्वचनजन्म काव्यानन्द) प्रतिष्ठा को प्राप्त करें, इसलिए उस ध्वनितत्त्व के स्वरूप को प्रकाशित किया जाता है।

ग्रन्थ के आरम्भ में ही निरूपित किया जा चुका है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रयोजन ध्वनि स्वरूप का ज्ञान है, किन्तु तत्त्वज्ञान के लिए ध्वन्यालोक ग्रन्थ का निर्माण अभीष्ट है और 'काव्य' का चरम लक्ष्य सहृदयजनों की मनःप्रीति ही है। वस्तुतः ध्वनिनिरूपण के दो ही प्रयोजन है। एक तो 'ध्वनि' के सम्बन्ध में विमतियों का निराकरण और दूसरा सहृदयजनों की प्रीति। ध्वनिस्वरूप का निरूपण सहृदयजनों को प्रसन्न करने के लिए ही आचार्य विमतियों के निराकरण पूर्वक करने जा रहे हैं।

वस्तुतः काव्य के प्रयोजनों में यश और अर्थ की प्राप्ति व्यवहारज्ञान और सद्यःपरनिर्वृति परमानन्द आदि अनेक फल माने गये हैं। परन्तु उन सबमें सद्यःपरनिर्वृति या आनन्द ही सबसे प्रधान फल है। अन्य यश औश्र अर्थ आदि की चरम परिणति आनन्द में ही होती है। इसलिए यहाँ काव्यात्मभूत ध्वनितत्त्व के निरूपण का एकमात्र फल 'आनन्द' मूलकारिका में 'सहृदयमनःप्रीतये' शब्द से और उसकी वृत्ति में 'आनन्द' शब्द से दिखाया है।

साथ ही इस मूल कारिका एवं वृत्ति के द्वारा ग्रन्थकार ने अनुबन्धचतुष्टय (विषय–प्रयोजन–अधिकारी और सम्बन्ध) को भी निरूपित किया है। तदनुसार 'तत् स्वरूपं ब्रूमः' से ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय ध्वनि का स्वरूप है, यह सूचित किया है। ध्वनि के संबन्ध में विमतियों का निराकरण और उससे 'सहृदयमनःप्रीतये' से मनःप्रीतिरूप मुख्य प्रयोजन सूचित हुआ। ध्वनिस्वरूप जिज्ञासु सहृदय उसका अध्किारी और शास्त्र का विषय के साथ प्रतिपाद्य–प्रतिपादकभाव तथा प्रयोजन के साथ साध्य–साध्नभाव सम्बन्ध है इस प्रकार अनुबन्धचतुष्टय की निर्वहण किया गया है।

## 7.3 ध्वनि सिद्धान्त की भूमिका

ध्वनिलक्षण की प्रस्तावना, वाच्य एवं प्रतीयमानार्थ का स्वरूपनिरूपण ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत की पहली कारिका एवं वृत्ति के द्वारा विषय और प्रयोजन का निरूपण एवं निर्धारण हो जाने पर जिस ध्वनितत्त्व का लक्षण और स्वरूप निर्धरण करने जा रहे हैं उसकी आधार भूमि (भूमिरिव भूमिका) निर्माण हेतु ग्रन्थकार कहते हैं–

'तत्र ध्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भूमिकां रचयितुमिदमुच्यते–

**योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।**
**वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।।**

जैसे किसी अपूर्व प्रासाद (भवन) के निर्माण के लिए सर्वप्रथम उसके आधारभूमि (नींव) का निर्माण किया जाता है। अधारभूमि का निर्माण हो जाने पर ही उसके ऊपर भवन–निर्माण का कार्य प्रारम्भ होता है। उसी प्रकार वाच्यार्थ ध्वनि की आधरभूमि है, उसी के आधार पर प्रतीयमानार्थ की अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् ध्वनिरूप अपूर्व प्रासाद की स्थापना के लिए वाच्य रूपी आधारभूमि की निर्देश किया गया है।

अर्थ– कारिका सं. 2. सहृदयों द्वारा प्रशंसित जो अर्थ काव्य के आत्मारूप में प्रतिष्ठित है उसके वाच्य और प्रतीयमान दो अर्थ कहे गये हैं। कारिका की वृत्ति में ध्वनिकार ने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है– शरीर में आत्मा के समान, सुन्दर (गुणालङ्कारयुक्त) उचित (रसादि के अनुरूप) रचना के कारण रमणीय काव्य के साररूप में स्थित, सहृदयजन प्रशंसित जो अर्थ है उसके वाच्य और प्रतीयमान ये दो भेद है। यथा च–

**'काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुरूपः शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थस्तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ।'**

कारिका भाग में आए हुए काव्यशब्द की व्याख्या करते हुए लोचनकार कहते हैं– 'ललित' शब्द से गुण और अलङ्कार का अनुग्रह (सहाकत्व) कहा है। 'उचित'शब्द से रसविषयक ही औचित्य होता है यह दिखाते हुए रसध्वनि का जीवितत्व सूचित करते हैं। वाच्य से यहाँ अलङ्कारके गुण, रीति आदि का ग्रहण किया है वाच्यार्थ का नहीं। जैसा कि स्वयं ध्वनिकार कहते हैं–

### 7.3.1 वाच्य एवं प्रतीयमान अर्थ का स्वरूपनिरूपण

**तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरूपमादिभिः।**
**बहुध व्याकृतः सोऽन्यैः ततो नेह प्रतन्यते।।**

अर्थ– उन दोनों में से (वाच्य–प्रतीयमान में से) वाच्य अर्थ वह है जो उपमादि (गुणालङ्कार) प्रकारों से प्रसिद्ध है और अन्यों ने (पूर्व लक्षणकारों, भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट आदि) अनेक प्रकार से उनका प्रदर्शन किया है, व्याख्यान किया है, निरूपण किया है, इसलिए हम यहाँ उनका विस्तार से प्रतिपादन नहीं कर रहे हैं, केवल आवश्यकता अनुसार, उपयोग के लिए उसका अनुवादमात्र करेंगे।

**प्रतीयमानार्थ का स्वरूप निरूपण–**

कारिका सं. द्वितीय में सहृदयों द्वारा प्रशंसित काव्यार्थ जो कि 'काव्यात्मा' के रूप में व्यवस्थित है, उसके दो भाग या अंश माने गए हैं, एक वाच्य और दूसरा प्रतीयमान। उसमें वाच्य जो कि उपमादि प्रकारों से प्रसिद्ध है, तथा जिसका व्याख्यान (भामह, दण्डी, भट्टोद्भट, वामन, रुद्रट आदि) आचार्यों ने अनेक तरह से किया ही है, अतः आनन्दवर्धन के द्वारा उसका विस्तारपूर्वक निरूपण नहीं किया गया।

परन्तु प्रतीयमानार्थ का विवेचन ध्वनिकार को अभीष्ट है क्योंकि प्रतीयमानार्थ के स्वरूप निर्धारण के द्वारा ही ध्वनिसिद्धान्त की सिद्धि होनी है, अतः ध्वनिकार ने प्रतीयमान का लक्षण निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है–

**प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।**
**यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।**

अर्थ– प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है जो रमणियों के प्रसिद्ध (मुख, नेत्र, श्रोत्र, नासिकादि) अवयवों से भिन्न ललनाओं के लावण्य के समान, महाकवियों वचनों में वाच्यार्थ से अलग ही विशेरूप में भासित होता है।

इसी तथ्य को कारिका की वृत्ति में ध्वनिकार के द्वारा और स्पष्ट किया गया है–'**प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्याद्वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्। यत्तत्सहृदयसुप्रसिद्धं प्रसिद्धेभ्योऽलङ्कृतेभ्यः प्रतीतेभ्यो वाऽवयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते लावण्यमिवाङ्गनासु। यथा ह्यङ्गनासु लावण्यं पृथङ्निर्वर्ण्यमानं निखिलावयवव्यतिरेकि किमप्य ........... तद्वदेव सोऽर्थः।**' है।

प्रतीयमान महाकवियों के वचनों में वाच्यार्थ से भिन्न कुछ और ही विलक्षण वस्तु है, जिस प्रकार अङ्गनाओं में लावण्य (सौन्दर्य, कान्ति आभा–छटा आदि) अन्य समान अवयवों से पृथक् ही प्रकाशित होता है, और वही लावण्य सहृदय नेत्रों के लिए अमृततुल्य नयनानन्द जनक होता है इसी प्रकार व्यञ्जना वृत्ति से प्रतिपाद्य वह प्रतीयमान (व्यङ्ग्यार्थ) भी प्रसिद्ध वाच्यालङ्कारों से पृथक् ही है। जो सहृदयों के लिए आह्लादस्वरूप चमत्कृतिस्वरूप परमानन्द का जनक होता है, अतः वह प्रतीयमान कुछ विलक्षण ही तत्त्व है

## 7.3.2 प्रतीयमान का वाच्य से भिन्नत्व

यह ललना–लावण्य तुल्य व्यङ्ग्यार्थ वाच्य से सामर्थ्य से आक्षिप्त वस्तु अलङ्कार व रसादि के रूप में उपलब्ध होता है। ध्वनि के इन सभी प्रकारों में वह ध्वन्यमान अर्थ या प्रतीयमानार्थ वाच्य से पृथक् ही होगा। यथा–

**स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रं, अलङ्काररसादयश्चेत्यनेक–प्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते। सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु तस्य वाच्यादन्यत्वम्। तथा हि आद्यस्तावत् प्रभेदो वाच्याद् दूरं विभेदवान्। स हि काचिद् वाच्ये विध्रिूपे प्रतिषेधरूपः।**

वाच्य से व्यङ्ग्य की पृथक् सत्ता को ग्रन्थकार ने कई उदाहरणों के द्वारा प्रदर्शित किया है, जैसे– वाच्यार्थ कही विध्रिूप है तो व्यङ्ग्यार्थ निषेधरूप होता है। इस प्रकार वाच्य व व्यङ्ग्य में महान् अन्तर है यथा–

**भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।**
**गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिहेन।।**

इस पद्य में पहला (वस्तुध्वनि) भेद वाच्य से अत्यन्त भिन्न है। क्योंकि यहाँ वाच्य विधिरूप है तो वह प्रतीयमान प्रतिषेधरूप है।

पद्य का अर्थ– हे धर्मिक! गोदावरीनदी के किनारे कुञ्ज में रहनेवाले मदमत्त सिंह ने आज उस कुत्ते को मार डाला है, अब आप निश्चिन्त होकर घूमिये।

प्रस्तुत पद्य का प्रसङ्ग इस प्रकार है कि गोदावरी नदी के तट पर अपने प्रेमी के साथ रोज घूमने वाली किसी पुंश्चली (कुलटा) नायिका की यह उक्ति है किसी धर्मिक पण्डित जी के प्रति जो कि नित्य अपनी पूज्य (सन्ध्योपासना आदि) के लिए पुष्प–चयन हेतु उस गोदावरी के कुञ्ज में पहुच जाता था। जिससे उस नायिका को अपने प्रणयप्रसङ्ग में बाधा होती थी। अतः वह चाहती है कि व ये पण्डितजी इधर न आया करें। वैसे बिना बात उनको आने का सीध निषेध करना तो अनुचित और अनध्किार चेष्टा होती, इसलिए उसने सीध निषेध न करके उस प्रदेश में मत्त सिंह की उपस्थिति की उसने सीधा निषेध न करके उस प्रदेश में मत्त सिंह की उपस्थिति की सूचना द्वारा पण्डितजी को भयभीत कर उसके रोकने का यह मार्ग निकाला है।

प्रकृत श्लोक में वह पण्डितजी महाराज को यही सूचना दे रही है, परन्तु एक विशेष ढङ्ग से। वह कहती है– हे धार्मिक! वह कुत्ता जो आपको रोज तङ्ग किया करता था उसे गोदावरी के किनारे कुञ्ज में रहने वाले मदमत्त सिंह ने मार डाला है और अब आप निर्भय होकर भ्रमण करें। कुलटा नायिका जानती है कि पण्डितजी तो कुत्ते से ही डरते हैं, जब उन्हें मालूम होगा कि उसे सिंह ने मार डाला वह सिंह यहीं कुञ्ज में रहता है तो निश्चय ही पण्डितजी भूलकर भी उधर आने का साहस नहीं करेंगे। इसलिए वह पण्डितजी को निश्चिन्त होकर भ्रमण करने का निमन्त्रण दे रही है, परन्तु उसका तात्पर्य यही है कि कभी भूलकर भी इधर पैर न रखना, नही तो आपकी खैर नहीं। इस श्लोक का वाच्यार्थ तो विधिरूप है परन्तु जो उससे प्रतीयमान अर्थ (वस्त ध्वनि) है वह निषेधरूप है इसलिए वाच्यार्थ से प्रतीयमान अर्थ अत्यन्त भिन्न है। कहीं वाच्य प्रतिषेधरूप है तो व्यङ्ग्य (प्रतीयमानार्थ) विधिरूप होता है–

**श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय।**
**मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायामावयोः शयिष्ठा।।**

अर्थ– हे पथिक! दिन में अच्छी तरह देख लो, यहाँ सासजी सोती हैं और यहाँ मैं सोती हूँ। रात के अन्धे (रतौंधी के रोगी) हे पथिक! कहीं हमारी खाट पर न गिर पड़ना।

प्रस्तुत मूल प्राकृत गाथा में यद्यपि वाच्यार्थ निषेधरूप है परन्तु व्यङ्ग्यार्थ (प्रतीयमानार्थ) विधिरूप है। प्रकृत पद्य में यद्यपि वाच्यार्थ के द्वारा पथिक को निषेध किया जा रहा है परन्तु प्रतीयमान के द्वारा वह विधिरूप में है।

इसी प्रकार कहीं वाच्यार्थ विधिरूप होता है तो व्यङ्ग्य (प्रतीयमान) अनुभय रूप में होता है अर्थात् व्यङ्ग्य न तो विधिरूप में होता है ना ही निषेधरूप में। यथा च निम्न पद्य में–

**व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि।**
**मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत।।**

अर्थ– (तुम) जाओ, मै अकेली ही इन निःश्वास और रोने को भोगूँ (सो अच्छा है) कहीं दाक्षिण्य (समानुरागिता) के चक्कर में पड़कर, उसके विना तुमको भी यह सब न भोगना पड़े।

इस श्लोक में नायिका का प्रगाढ़ मन्यु (दुःख) प्रतीयमान है। वह न तो गमनाभावरूप निषेध ही है और न तो कोई दूसरा विधि (विध्यन्तर) निषेध का अभाव ही व्यङ्ग्य होता है। इसलिए यहाँ प्रतीयमान अर्थ अनुभयरूप है।

इसी प्रकार कहीं वाच्यार्थ प्रतिषेध रूप होने पर प्रतीयमानार्थ अनुभयरूप होता है। जैसे निम्न पद्य में–

**प्रार्थये तावत्प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमो निवहे।**
**अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे।।**

अर्थ– (मैं) प्रार्थना करता हूँ मान जाओ, लौट जाओ। अरी अपने मुखचन्द्र की ज्योत्स्ना से गाढ–अन्ध्कार को दूर करने वाली, तुम अन्य अभिसारिकाओं (के कार्य) का भी विघ्न कर रही हो।

यहाँ वाच्य प्रतिषेधरूप होने पर भी व्यङ्ग्य अनुभयरूप होने से प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से अत्यन्त भिन्न है।

इस प्रकार विषय का ऐक्य होने पर भी वाच्य और व्यङ्ग्य का स्वरूपभेद से भेद दिखाया है। इस प्रकार वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान (वस्तुध्वनि) के और भी भेद हो सकते है, यहाँ तो उनका केवल दिग्दर्शनमात्र कराया है। वस्तुध्वनि का वाच्यार्थ से भेद उपर्युक्त उदाहरणों के द्वारा दर्शाया गया। दूसरा प्रभेद अलङ्कारध्वनिरूप प्रकार भी वाच्यार्थ से भिन्न है, उसे आगे द्वितीय–उद्योत में विस्तारपूर्वक दिखायेंगे।

जैसा कि ध्वनिकार ने स्वयं लिखा है– **'अन्ये चैवं प्रकाराः वाच्याद् विभेदिनः प्रतीयमानभेदाः सम्भवन्ति। तेषां दिङ्मात्रमेतत् प्रदर्शितम्। द्वितीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्विभिन्नः सप्रपञ्चमग्रे दर्शयिष्यते।'**

इस प्रकार वस्तुध्वनि एवं अलङ्कारध्वनिरूप प्रतीयमान प्रभेद का वाच्यार्थ से भिन्नत्व का प्रतिपादन करके अब रसादिध्वनि का वाच्यार्थ से भिन्नत्व प्रदर्शित करते हुए कहते हैं–

**तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते न तु साक्षाच्छब्दव्यापारविष्ज्ञय इति वाच्याद् विभिन्न एव। तथा हि वाच्यत्वं तस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्यात्, विभावादिप्रतिपादनमुखेन वा। पूर्वस्मिन् पक्षं स्वशब्दनिवेदितत्वाभावे रसादीनामप्रतीतिप्रसङ्गः न च सर्वत्र तेषां स्वशब्दनिवेदितत्वम्। यत्राप्यस्ति तत्, तत्रापि विशिष्ट विभावादिप्रतिपादनमुखेनैवैषां प्रतीतिः। स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते न तु तत्कृता। विषयान्तरे तथा तस्या अदर्शनात्। न हि केवलं शृङ्गारादि शब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्वप्रतीतिरस्ति। यतश्च स्वाभिधनमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीना प्रतीति। केवलाच्च रसाभिवानादप्रतीति।**

**तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम्। न त्वभिधेयत्व कथञ्चित्। इति तृतीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद् भिन्न एवेति स्थितम्। वाच्येन त्वस्य सहेव प्रतीतिरग्रे दर्शयिष्यते।'**

अर्थ– तृतीय रसादिरूप ध्वनि का जो प्रभेद है, वह तो वाच्यसामर्थ्य से आक्षिप्त होता हुआ ही प्रकाशित होता है। अर्थात् व्यञ्जनावृत्ति से प्रतिपादित होने पर ही चमत्कार का आधान करता है, अन्यथा नहीं, रसादि शब्द से वह कदापि वाच्य नहीं हो सकता है। रसादि साक्षात् शब्दव्यापार (अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या शक्ति) का विषय नहीं होता है इसलिए वाच्यार्थ से भिन्न ही है।

अर्थात् विशिष्ट विभावादि के प्रतिपादन के द्वारा ही रसादि की प्रतीति होती है, विभावादि शब्दाभाव में केवल रसादिशब्द द्वारा तो रस की प्रतीति नहीं होती है। संज्ञा शब्दों से वह केवल अनूदित होती है। उनसे जन्म नहीं होती है। क्योंकि दूसरे स्थानों पर उस प्रकार से वह दिखलायी नहीं देती।

इसलिए तीसरा (रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता आदि रूप) भेद भी वाच्य से भिन्न ही है यह निश्चित है।

**मूलपाठः**

**स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः ।**
**त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः ।।**

**काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व–**
**स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ।**
**केचिद्वाचाम् स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयम्**
**तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम् ।।1।।**

बुधैः काव्यतत्त्वविद्भिः काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः ,परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यक् आसमन्तात् म्नातः प्रकटितः ,तस्य सहृदयजनमनःप्रकाशमानस्याप्यभावमन्ये जगदुः ।तदभाववादिनां चामी विकल्पाः सम्भवन्ति ।

तत्र केचिदाचक्षीरन् – शब्दार्थशरीरन्तावत्काव्यम् । तत्र च शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धाएव । अर्थगताश्चोपमादयः । वर्णसंघटनाधर्माश्च येमाधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते । तदनतिरिक्तवृत्तयोवृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः , ताअपि गताः श्रवणगोचरम् । रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः। तद्व्यतिरिक्तः कोऽयम् ध्वनिर्नामेति ।

अन्ये ब्रूयुः –– नास्त्येव ध्वनिः । प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणःकाव्यप्रकारस्य काव्यत्वहानेः सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थ–मयत्वमेव काव्यलक्षणम् । न चोक्तप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्यतत्सम्भवति । न च तत्समतान्तःपातिनः सहृदयान्

कांश्चित्परिकल्प्य तत्प्रसिद्ध्या ध्वनौ काव्यव्यपदेशःप्रवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते ।

पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयुः —— न सम्भवत्येवध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित् । कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तेष्वेवचारुत्वहेतुष्वन्तर्भावात् । तेषामन्यतमस्यैव वा अपूर्वसमाख्या–मात्रकरणे यत्किंचन कथनं स्यात् ।

किंच वाग्विकल्पानामानन्त्यात् सम्भवत्यपि वा कस्मिंश्चित् काव्य–लक्षणविधायिभिः प्रसिद्धैरप्रदर्शिते प्रकारलेशे ध्वनिर्ध्वनिरितियदेतदलीक सहृदयत्वभावनामुकुलितलोचनैर्नृत्यते , तत्रहेतुं न विद्मः । सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलंकारप्रकाराःप्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च । न च तेषामेषा दशा श्रूयते ।

तस्मात् प्रवादमात्रं ध्वनिः । न त्वस्य क्षोदक्षमम् तत्त्वम् किंचिदपि प्रकाशयितुं शक्यम् । तथा चान्येन कृत एवात्र श्लोकः –––

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किंचन मनःप्रह्लादि सालंकृति

व्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत् ।

काव्यं तद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसञ्जडो

नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः ।।

भाक्तमाहुस्तमन्ये । अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितम् काव्यत्मानं

गुणवृत्तिरित्याहुः ।

यद्यपि च ध्वनिशब्दसंकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्ति–रन्यो वा न कश्चित्प्रकारः प्रकाशितः , तथापि अमुख्यवृत्त्याकाव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक्स्पृष्टोऽपि नलक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम् –'भाक्तमाहुस्तमन्ये'इति ।

केचित्पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरम्सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः । तेनैवंविधासुविमतिषु स्थितासु सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूमः ।

तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतमतिरमणीय– मणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलित–पूर्वम् , अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्रप्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतांप्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते।।

तत्र ध्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भूमिकां रचयितुमिदमुच्यते –––

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः ।

वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ।।2।।

काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थस्तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ ।

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः ।

बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः –––

काव्यलक्ष्मविधायिभिः ––– ततो नेह प्रतन्यते ।।3।।

केवलमनूद्यते पुनर्यथोपयोगमिति ।।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।

यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु।।4।।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्याद्वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।यत्तत्सहृदयसुप्रसिद्धं प्रसिद्धेभ्योऽलंकृतेभ्यः प्रतीतेभ्योवाऽवयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते लावण्यमिवांगनासु । यथाह्यंगनासु लावण्यं पृथङ्निर्वर्ण्यमानं निखिलावयवव्यतिरेकिकिमप्यन्यदेव सहृदयलोचनामृतं तत्त्वान्तरं तद्वदेव सोऽर्थः ।

स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तम् वस्तुमात्रमलंकाररसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नौ दर्शयिष्यते । सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु तस्यवाच्यादन्यत्वम् । तथा ह्याद्यस्तावत्प्रभेदो वाच्याद् दूरम् विभेदवान् ।स हि कदाचिद्वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेधरूपः । यथा ———

**भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।**
**गोदावरीनदीकूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन।।**

क्वचिद्वाच्ये प्रतिषेधरूपे विधिरूपो यथा ———

**श्वश्रूरत्र शेते अथवा निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय ।**
**मा पथिक रात्र्यन्धः शय्यायामावयोः शयिष्ठाः।।**

क्वचिद्वाच्ये विधिरूपेऽनुभयरूपो यथा ———

**व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि ।**
**मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत ।।**

क्वचिद्वाच्ये प्रतिषेधरूपेऽनुभयरूपो यथा ———

**प्रार्थये तावत्प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे ।**
**अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे ।।**

क्वचिद्वाच्याद्विभिन्नविषयत्वेन व्यवस्थापितो यथा ———

**कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम् ।**
**सभ्रमरपद्माघ्राणशीले वारितवामे सहस्वेदानीम् ।।**

अन्ये चैवंप्रकारा वाच्याद्विभेदिनः प्रतीयमानभेदाः संभवन्ति । तेषां दिङ्मात्रमेतत्प्रदर्शितम् । द्वितीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्विभिन्नःसप्रपंचमग्रे दर्शयिष्यते ।

तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते ,न तु साक्षाच्छब्दव्यापारविषय इति वाच्याद्विभिन्न एव । तथा हि वाच्यत्वं तस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्यात् । विभावादिप्रतिपादनमुखेन वा । पूर्वस्मिन् पक्षे स्वशब्दनिवेदितत्वाभावे रसादीनामप्रतीतिप्रसंगः । न च सर्वत्र तेषां स्वशब्दनिवेदितत्वम् । यत्राप्यस्ति तत् , तत्रापि विशिष्टविभावादिप्रतिपादनमुखेनैवैषां प्रतीतिः ।स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते , न तु तत्कृता विषयान्तरे तथा तस्या अदर्शनात् । न हि केवलशृंगारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहितेकाव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीतिरस्ति । यतश्च स्वाभिधानमन्तरेणकेवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः । केवलाच्चस्वाभिधानादप्रतीतिः । तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्या– क्षिप्तत्वमेव रसादीनाम् । न त्वभिधेयत्वं कथंचित् , इति तृतीयोऽपिप्रभेदो वाच्याद्विभिन्न एवेति स्थितम् । वाच्येन त्वस्य सहेव प्रतीतिरित्यग्रे दर्शयिष्यते ।

## 7.4 सारांश

ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत की प्रथम इकाई (कारिका– 01 से 04 तक) के अध्ययन से आपने जाना कि साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ में ध्वन्यालोक का क्या महत्त्व है। ध्वन्यालोक के कर्ता आनन्दवर्धन के कर्तृत्व एवं व्यक्तित्व से भी आप परिचित हुए। ध्वन्यालोक का प्रतिपाद्य विषय काव्यस्यात्मा ध्वनि, ग्रन्थ का प्रयोजन, ध्वनिविषयक तीन विप्रतिपत्तियाँ, ध्वनिविरोधि तीन मतों का विश्लेषण, अभाववाद एवं उनके विकल्पों का निरूपण, भाक्तवाद की निरूपण, भक्ति की विवेचना, अनिर्वचनीयतावाद का निरूपण, ध्वनिनिरूपण का प्रयोजन, ध्वनिसिद्धान्त की भूमिका, वाच्यार्थ का स्वरूप, प्रतीयमानार्थ का स्वरूप एवं लक्षण, विविध उदाहरणों के द्वारा प्रतीयमान का वाच्य से भिन्नत्वनिरूपण, वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि एवं रसादिध्वनि का वाच्य से भिन्नत्वनिरूपण प्रभृति विविध विषयों का अध्ययन आपने इस इकाई में किया। आपने जाना कि ध्वन्यालोक ग्रन्थ के द्वारा किस तरह साहित्यशास्त्र की दशा एवं दिशा परिवर्तित हुई, फलतः ध्वन्यालोक युगप्रवर्तकग्रन्थ सिद्ध हुआ। इस प्रकार इस इकाई के अध्ययन से आपने ध्वनिसिद्धान्त स्थापना की पृष्ठभूमि की जानकारी प्राप्त की है।

## 7.5 शब्दावली

विप्रतिपत्ति– असहमति, आप्रति, मतों का विरोध, विरोधी मत।

विश्रुत– प्रसिद्ध, प्रख्यात।

युगप्रवर्तक– युग को प्रवर्तित करने वाला।

सार्वभौम– विश्वव्यापी, समस्त विश्व में व्याप्त।

सिद्धान्त– मत, प्रमाणि तथ्य, तर्क सहित निर्णीत मत या विचार।

समालोचना– आलोचना, समीक्षा, गुणदोष की विवेचना।

गुणीभूतव्यङ्ग्य– जहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की तुलना में कम चमत्कारी हो।

निर्विघ्न– बिना किसी विघ्न के।

चारुता– सुन्दरता, शोभा, रमणीयता।

प्रस्थान– पक्ष, पद्धति, प्रणाली, मत।

विलक्षण– अद्‌भुत, अपूर्व।

विचित्रता– सुन्दरता, मनोहर।

## 7.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

**ध्वन्यालोकः** आनन्दवर्धनाचार्य विरचित, व्याख्याकार– आचार्य जगन्नाथपाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

**ध्वन्यालोक** व्याख्याकार– आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी

**ध्वन्यालोक** लीला संस्कृत हिन्दी व्याख्या सहित, आचार्य लोकमणि दहाल, भारतीयविद्याप्रकाशन, दिल्ली

**संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास** पी.वी. काणे, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली

**ध्वन्यालोक** व्याख्याकार– के.कृष्णमूर्ति, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

**ध्वन्यालोक** व्याख्याकार– डॉ. रामसागरत्रिपाठी, मोतीलालबनारसीदास, दिल्ली

**काव्यशास्त्रविमर्श** डॉ. कृष्णकुमार, मयङ्क प्रकाशन, कनखल, हरिद्वार

**ध्वन्यालोक** व्याख्याकार– डॉ. बालप्रियाटीकासमन्वित, काशी संस्कृत सीरिज, वाराणसी

**ध्वनिसिद्धान्त** डॉ. राममूर्तिशर्मा, अजन्ता पब्लिकेशन्स, जवाहरनगर, नई दिल्ली

**ध्वन्यालोकविमर्श** प्रो. माणिकगोविन्द चतुर्वेदी, अक्षरप्रकाशन, विश्वासनगर, दिल्ली

**आनन्दवर्धन** लेखक– प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी, मध्यप्रदेश, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

## 7.7 बोध प्रश्न

1. अभाववाद की विवेचना करें?
2. भाक्तवाद का निरूपण करें?
3. प्रतीयमान अर्थ के स्वरूप को प्रतिपादित करें?
4. वाच्य से प्रतीयमान के भिन्नत्व का सोदाहरण प्रतिपादन करें?
5. ध्वनिसिद्धान्त की पृष्ठभूमि को विस्तारपूर्वक निरूपित करें?
6. आनन्दवर्धन के कर्तृत्व एवं व्यक्तित्व का निरूपण करें?
7. ध्वन्यालोक के मङ्गलपद्य की व्याख्या करें?

# इकाई 8 (ध्वन्यालोकः) प्रथम उद्योत, कारिका 5 से 10 तक

**इकाई की रूपरेखा**



## 8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप–

- रसादिध्वनि ही काव्य का जीवनाधायक तत्त्व है इस तथ्य को जान सकेंगे।
- वाल्मीकि रामायण में करुणरस की प्रधानता से परिचित हो सकेंगे।
- महाकवि की वाणी के महात्म्य को बताने में समर्थ होंगे।
- प्रतीयमानार्थ की प्रतीति काव्यार्थतत्त्वज्ञों को ही हो सकती है इस तथ्य से परिचित हो सकेंगे।
- व्यङ्ग्य–व्यंजक का पहचान आवश्यक है इस बात को जान सकेंगे।
- व्यङ्ग्य की प्रधानता में वाच्य–वाचक को उपादान को बताने में समर्थ हो सकेंगे।
- व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थ प्रतीति पूर्वक ही होती है इस तथ्य को जान सकेंगे।

## 8.1 प्रस्तावना

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में आनन्दवर्धन का 'ध्वन्यालोक' एक युगान्तकारी ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के द्वारा ध्वनिसिद्धान्त की उद्भावना और प्रतिष्ठा करके आनन्दवर्धन ने काव्यशास्त्र के क्षेत्र में महनीय स्थान प्राप्त किया। उन्होंने साहित्य में अपने से प्राचीन रसविषयक मान्यताओं और आलोचना के सिद्धान्त को नवीन दिशा देकर एक नया मार्ग प्रशस्त किया। आनन्दवर्धन ने बताया कि काव्य में मुख्यरूप से दो प्रकार के अर्थ

होते हैं– वाच्य और प्रतीयमान। इन दोनों अर्थों में जब प्रतीयमान अर्थ का सौन्दर्य काव्य में चमत्कारी रस में अभिव्यक्त होता है तभी वह काव्य ध्वनिकाव्य कहलाता है।

ध्वनिकार से पूर्व काव्यशास्त्र के क्षेत्र में रस अलंकार और रीति इन तीन सिद्धान्तों का आविर्भाव हो चुका था। विभिन्न आचार्यो ने काव्य के इन तत्त्वों में से किसी एक को काव्य की आत्मा (सर्व प्रधान तत्त्व) के रूप में प्रतिपादित किया था। परन्तु आनन्दवर्धन ने समर्थ युक्तियों द्वारा यह प्रतिपादित किया कि ये सभी तत्त्व काव्य के अंगभूत है, केवलं ध्वनि को ही सर्वव्यापक होने के कारण काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है। ध्वनि का मूल प्रतीयमान अर्थ है, जो कि महाकवियों की वाणी में कुछ और ही अनिर्वचनीय वस्तु के रूप में काव्य में शोभायमान होता है। यही अर्थ सहृदयों के हृदय को आनन्दित करने वाला होता है। यही अर्थ काव्य की आत्मा है। यह अर्थ आदिकवि महर्षि वाल्मीकि की वाणी में काव्य के रूप में प्रस्फुटित हुआ था, जबकि उनका क्रौंच युगल के वियोग से उत्पन्न शोक श्लोक के रूप में परिणत हो गया था।

प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार का होता है– वस्तु– अलंकार और रसादि। इसी आधार पर ध्वनिकार ने ध्वनि के भी तीन भेद किये– वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि और रसादिध्वनि। इन तीनों में भी ध्वनिकार ने रसध्वनि को सबसे अधिक महत्त्व दिया। महाकवियों की रचनाओं से विभिन्न उदाहरणों को प्रस्तुत करके ध्वनिकार ने इस प्रतीयमान अर्थ के द्वारा काव्य के चारुत्व का प्रतिपादन किया है।

इस इकाई में ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत के कारिका 05 से 11 तक का अध्ययन आप करेंगे। इस इकाई में आप वाल्मीकिरामायण के आधार पर प्रतीयमान रस ही काव्य की आत्मा है, अर्थात् रसध्वनि का काव्यात्म के रूप में निरूपण महाकवि की वाणी का माहात्म्यम्, प्रतिभाविशेष से प्रतीयमानार्थ की अभिव्यक्ति, प्रतीयमानार्थ की प्रतीति काव्यार्थतत्त्वज्ञों को ही हो सकती है, व्यङ्ग्य का प्राधान्यप्रतिपादन, व्यङ्ग्य–व्यंजक की पहचान आवश्यक, व्यङ्ग्यप्राधान्य में वाच्य–वाचक का उपादान तथा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थ प्रतीति पूर्वक ही हो सकती है, इत्यादि विविध विषयों का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

## 8.2 रसध्वनि का काव्यात्मा के रूप में निरूपण

ध्वनि के अनेक भेद–प्रभेद होने पर भी इसके तीन मुख्य भेद किये जाते हैं– वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि और रसध्वनि। इन तीनों में से वस्तु और अलंकारध्वनि तो वाच्य भी हो सकते हैं, परन्तु कभी भी (स्वप्नावस्था में भी) वाच्य नहीं होता। वह सदा प्रतीयमान ही होता है। रस सदा विभावादि के द्वारा अभिव्यंजित होता है। रस की वाच्यता को काव्य–दोष कहा गया है।

अतः सहृदयों को रस की प्रतीति ध्वनित ही होती है। रस की प्रतीति या अभिव्यक्ति सदा ध्वनि के आश्रित रहती है। इस प्रकार काव्य में रस का महत्त्व सर्वाधिक होने पर भी, उसके ध्वन्यमान या प्रतीयमान होने के कारण ध्वनिकार ने रस को काव्य की आत्मा न कह कर सामान्यरूप से काव्यस्यात्मा ध्वनिः कहा। लेकिन अन्यत्र स्वयं ध्वनिकार के द्वारा रसध्वनि को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया गया है। आनन्दवर्धन ने रस के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए निर्देश किया है कि अलंकारों की योजना रस के अनुरूप होनी चाहिए। यह रसरूप अर्थ ही काव्य का सारभूत तत्त्व है।

ध्वन्यालोक की लोचनटीका में व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्तपादाचार्य ने स्थान–स्थान पर यह प्रतिपादित किया है कि ध्वनि के अनेक भेद होने पर भी रसध्वनि को ही मुख्य रूप से काव्य की आत्मा समझना चाहिए। यथा– 'तेन रस एव वस्तुतः आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनि तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तौ इत्यभिप्रायेण 'ध्वनिः काव्यस्यात्मे'ति सामान्येनोक्तम्।''

### 8.2.1 प्रतीयमान रस ही काव्य की आत्मा

रसादिध्वनि ही काव्य का जीवनाधायक तत्त्व है, इस वात को ध्वनिकार प्राचीन इतिहास प्रसिद्ध ग्रन्थ के द्वारा भी सिद्ध करते हैं–

**'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।**
**क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।।**

अर्थ– काव्य की आत्मा वही (प्रतीयमान रस) अर्थ है, जैसा कि प्राचीनकाल में क्रौंचपक्षी के जोड़े के वियोग से उत्पन्न आदिकवि वाल्मीकि का शोक (करुणरस का स्थायि भाव) श्लोक (काव्य) रूप में परिणत हुआ, और वाल्मीकिरामायण की रचना हुई।''

'शोक श्लोक के रूप में परिणत हुआ' ध्वनिकार का यह निर्देश एक ऐतिहासिक घटना को सूचित करता है, जो 'वाल्मीकिरामायण' से ज्ञात होती है। किसी समय महर्षि वाल्मीकि अपने आश्रम से समित्कुशाहरण के लिए बाहर निकल कर वनप्रान्त में धूम रहे थे। तभी उन्होंने व्याध के द्वारा बाण के बिंधे हुए एक क्रौंच पक्षी को देखा, जिसके वियोग सहचरी कौंची अत्यन्त कातरस्वर में विलाप कर रही थी, व्याकुल थी। उस समय अचानक ऋषि के मुख से शापयुक्त छन्दोमयी वाणी निकल पड़ी जो–

**मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।**
**यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।**

इस पद्य के रूप में प्रसिद्ध है। इसे ही ''शोकः श्लोकत्वमागतः'' कहा गया है। महाकवि कालिदास ने भी 'रघुवंशमहाकाव्य' के चौदहवें सर्ग में इस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया है–

**तामभ्यगच्छद् रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः।**
**निषादविद्वाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः।।**

प्रस्तुत प्रसंग के अनुसार ध्वनिकार ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि (रस) ही वस्तुतः काव्य की आत्मा है। यद्यपि ध्वनि के अन्य वस्तु व अलंकार रूप भेद भी है परन्तु सर्वोत्तम होने के कारण इस का ही यहाँ काव्यात्मा या काव्यविशेष कहा गया है। क्योंकि वस्तु व अलंकार का भी पर्यवसान रस में ही होता है और यह रस हमेशा प्रतीयमान होता है जैसा की लोचनकार ने व्याख्यायित किया है। यहाँ क्रौंच रूप आलम्बन में उत्पन्न शोक आक्रन्दन आदि अनुभावों की चर्वणा से अलौकिक स्थिति में हृदयसंवाद औश्र तन्मयीभाव के क्रम से अभिव्यक्त होता है।

इस प्रकार ऋषि वाल्मीकि ने उस अलौकिक शोक को चित्त की द्रुति द्वारा आस्वादन किया। यह आस्वादन उस शोक का परिवर्तित रूप 'करुण रस' ही है। इसका परिणाम यह हुआ कि– उस शोक का अलौकिक आस्वादन ही छन्दोमयी वाणी में काव्य बन

गया। इस प्रकार इस युक्ति से करुण रस ही प्रस्तुत छन्दोमयी वाणी का सार होने के कारण 'काव्य की आत्मा' निश्चित होता है।

इस तथ्य को ग्रन्थकार ने कारिका की वृत्ति में भी प्रदर्शित किया है। जैसे– ''विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपंचचारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः। तथा चादिकवेर्वाल्मीकेः निहतसहचरीविरहकातरक्रौंचाक्रन्दजनितः शोक एव श्लोकतया परिणतः। शोको हि करुणरसस्थायिभावः प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात्।''

अर्थ– नाना प्रकार के शब्द, अर्थ और संघटना के प्रपंच से मनोहर काव्य का सारभूत (आत्मा) वही (प्रतीयमान रस) अर्थ ही है। तभी निषाद के बाण से विद्ध, मरणासन्न, अपनी सहचरी क्रौंची के वियोग से कातर क्रौंच की चीख (आक्रन्दन) से उत्पन्न आदि कवि वाल्मीकि (वाल्मीकिनिष्ठ करुणरस का स्थायिभाव) का शोक श्लोक रूप में परिणत हो गया।

इस प्रकार पुरावृत्त (इतिहास प्रसिद्ध कथानक) के द्वारा 'प्रतीयमान' को काव्यात्मत्व प्रदर्शित कर, अब सहृदयों के अनुभव द्वारा की प्रतीयमान की आव्यात्मता सिद्ध करते हैं। यथा–

### 8.2.2 महाकवि की वाणी का महात्म्य एवं प्रतिभाविशेष की अभिव्यक्ति

पूर्व की कारिका में ध्वनिकार ने इतिहास के प्रकार से (वाल्मीकिरामायण के उद्धरण द्वारा) प्रतीयमान (रस) का काव्यात्मत्व प्रदर्शित करके सहृदयजनों के अपने अनुभव से भी प्रतीयमान (रस) की काव्यात्मता सिद्ध है इस तथ्य को दिखाते हैं–

**'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।**
**अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।।**

अर्थ– उस सरस व रमणीयार्थरूप वस्तु (प्रतीयमानार्थ) को प्रवर्वित करती हुई महाकवियों की सरस्वती (वाणी) अलौकिक स्फूर्तिमयी प्रतिभा विशेष को अभिव्यक्त करती है।

आचार्य के कहने का तात्पर्य यह है कि महाकवियों की वाणी किसी विशिष्ट चमत्कारपूर्ण अर्थ को अभिव्यक्त करती है, जिसे ध्वनिसिद्धान्त के अनुसार प्रतीयमान कहते है। ध्वनिकार ने महाकवियों की वाणी को व्यङ्ग्यार्थ को प्रवाहित करने वाली कहा है। यह एक प्रकार की धेनु है जो सहृदयरूपी वत्सों को स्वयं दिव्य रस पिलाकर आनन्दित करती है। अर्थात् वाणी एक प्रकार की कामधेनु हैं, जो सहृदयरूपी वत्सों के लिए दिव्यरस का अभिनिःस्यन्दन करती है, जिसे पीकर वह आनन्दित हो जाता है, जैसा कि भट्टनायक का भी कथन है–

**वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद्बालतृष्णया।**
**तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि यः।।**

अर्थ– सहृदयरूप वत्स में स्नेह के कारण, वाणीरूप धेनु इस दिव्य रस को प्रस्नुत करती है, इसके समान वह रस नहीं है जिसे (समाधि के द्वारा) योगी लोग दुहा करते हैं। यहाँ लोचनकार ने इस कथन को उद्धृत करके यह निर्देश किया है कि वह

आनन्द, जो सहृदयों को कविता से प्राप्त होता है, तथा वह आनन्द, जो योगियों को समाधि में मिलता है, दोनों में बहुत अन्तर है।

कहने का तात्पर्य यह है कि सहृदयों को भगवती वाग्देवी (सरस्वती) के द्वारा प्रदत्त प्रतिभापूर्ण कविता से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह समाधि के द्वारा प्राप्त करने वाले योगियों के आनन्द से भी कुछ विलक्षण ही है। जो कविता जितना ही रस का अनुभव कराती है उतना ही उससे कवि की प्रतिभाविशेष की पता चलता है। और उसी अभिव्यक्तप्रतिभाविशेष के आधार पर ही कवि की महाकवित्व कोटि में गणना होती है। अत एव संसार में हजारों की संख्या में कवि होते आए हैं, किन्तु वह प्रतिभाविशेष का ही चमत्कार है जो कालिदास प्रभृति कुछ ही कवि महाकवि की श्रेणी में आते हैं। इसी बात को ग्रन्थकार ने कारिका की वृत्ति में इस प्रकार कहा है–

''तत् वस्तुतत्त्वं निःष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तमभिव्यनक्ति। येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पंचषा एव वा महाकवय इति गण्यन्ते।''

अर्थ– उस (प्रतीयमान रसभावादि) अर्थतत्व को प्रवाहित करती हुई महाकवियों की सरस्वती (वाणी) परिस्फुरित होते हुए अलोकसामान्य प्रतिभाविशेष को अभिव्यक्त करती है। जिसके कारण अतिविचित्र कविपरम्पराशाली इस संसार में कालिदास आदि दो–तीन अथवा पाँच–छः ही महाकवि गिने जाते हैं।

विशेष– प्रतिभा को परिभाषित करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की लोचनटीका में लिखा है– ''प्रतिभा'– अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञाः, तस्या 'विशेषो' रसावेशवैशद्यसौन्दर्यं काव्यनिर्माणसमत्वम्।''

अर्थात्– अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा 'प्रतिभा' कहलाती है, उसका 'विशेष' रसावेश के कारण उत्पन्न वैशद्यप्रयुक्त सौन्दर्यरूप काव्यनिर्माण की क्षमता है।

## 8.2.3 प्रतीयमानार्थ की प्रतीति काव्यतत्त्वज्ञों को ही

वाच्यार्थ से प्रतीयमानार्थ का भेद सद्भाव को दिखाकर उस प्रतीयमानार्थ बोधकसामग्री का भी निर्देश करते हैं। अर्थात् प्रतीयमान ही प्रतीति केवल काव्यमर्मज्ञों को ही होती है यह भी प्रतीयमान के सद्भाव में प्रमाण है। यथा च–

इदं चापर प्रतीयमानार्थस्य सद्भावसाधनं प्रमाणम्–

**शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।**
**वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्।।**

अर्थ– वह (प्रतीयमान अर्थ) शब्दशास्त्र (व्याकरणादि) और कोशादि के ज्ञानमात्र से ही प्रतीत नहीं होता, वल्कि वह तो केवल काव्यमर्मज्ञों (काव्यार्थ के तत्त्वज्ञों) को ही ही विदित होता है।

कारिका की वृत्ति में इस तथ्य को और स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार करते है–

''सोऽर्थो यस्मात्केवलं काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव ज्ञायते। यदि च वाच्यस्य एवासावर्थः स्यात्तद्वाच्यवाचकरूपपरिज्ञानादेव तत्प्रतीतिः स्यात्। अथ च वाच्यवाचकलक्षणकृतश्रमाणां काव्यतत्त्वार्थभावनाविमुखानां स्वरश्रुत्यादिलक्षणमिवाऽप्रमीतानां गान्तर्ध्वलक्षणविदामगोचर एवासावर्थः।''

क्योंकि केवल काव्यार्थतत्त्वज्ञ ही उस अर्थ को ज्ञान सकते हैं। यदि वह अर्थ केवल वाच्यरूप ही होता तो शब्द और अर्थ के ज्ञानमात्र से ही उसकी प्रतीति होती । परन्तु (केवल संगीतशास्त्र के ग्रन्थ से) गान्धर्वविद्या को (संगीतविद्या को) सीख लेने वाले उत्कृष्ट गान के अनभ्यासी (नौसिखिया) गायकों के लिए स्वरश्रुति आदि के रहस्य के समान, काव्यार्थ भावना से रहित केवल वाच्य–वाचक (कोशादि अर्थनिरूपण शास्त्र और व्याकरणादि शब्दशास्त्र) में कृतश्रम पुरुषों के लिए वह प्रतीयमान अर्थ अगोचर (अज्ञात) ही रहता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रतीयमान का ज्ञान केवल शब्दार्थ ज्ञान से नहीं हो सकता है, वाच्य और वाचक का बोध तो व्याकरण–कोशादि के ज्ञान से हो जाता है, परन्तु व्यङ्ग्य–व्यंजक का बोध काव्यतत्त्वार्थ की भावना से पराङ्मुख के लिए अज्ञात ही रता है जैसे कि संगीतशास्त्र के लक्षणों को लक्षणग्रन्थ से जान लेने के बावजूद गाने में अनभ्यासवशात् प्रवीणता नहीं आ पाती है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार गानविद्या में निपुणता हासिल कर लेने वाला यदि गान का अभ्यास न करने पर स्वर और श्रुति आदि के तत्त्वों से अपरिचित रहता है, उसी प्रकार केवल वाच्य–वाचक मात्र में श्रम करने वाले तथा काव्यतत्त्वार्थ की भावना से विमुख लोग उस प्रतीयमान अर्थ को नहीं समझ सकते। स्वर–श्रुति आदि संगीत–शास्त्रीयतत्त्वों का विशदज्ञान 'संगीतरत्नाकर' आदि ग्रन्थों से करना चाहिए। वस्तुतः काव्यों में व्यङ्ग्यार्थ (प्रतीयमान) की प्रधानता होती है।

'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादि स्थलों में व्याकरणादि से तो केवल 'सूर्यास्त हो गया' इतना ही वाच्यार्थ का ज्ञान होता है, परन्तु काव्यज्ञ तो प्रकरणादि की सहायता से तापशान्ति, अभिसरणादि, सन्ध्या–वन्दनादि, सायंकालीन गृहकर्म इत्यादि' नाना प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ का बोध कर लेता है। अतः वाच्य से वह व्यङ्ग्य (प्रतीमान) पृथक् ही है और इसकी बोधक सामग्री भी भिन्न ही है।

### 8.2.4 व्यङ्ग्य का प्राधान्य प्रतिपादन, व्यङ्ग्य व्यंजक की पहचान

इस प्रकार वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान भी सत्ता को सिद्ध करके प्राधान्य भी उसी का है यह दिखाते हैं–

**सोऽर्थस्तद्रव्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।**
**यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः।।**

अर्थ– वह (प्रतीयमान) अर्थ और उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ विशेष शब्द, इन दोनों को भली प्रकार पहिचानने का प्रयत्न महाकवि को करना चाहिये। अर्थात् यत्नपूर्वक वे शब्द और अर्थ महाकवि के द्वारा प्रत्यभिज्ञेय है। वस्तुतः काव्य में उन्हीं शब्दार्थों का साहित्य सुन्दर माना जाता है जो कि विलक्षण प्रतीयमानार्थ की अभिव्यक्ति का सामर्थ्य रखते हैं। ऐसे ही शब्दार्थों के लिए कवि का प्रयत्न और अनुसन्धान भी रहता है। सर्व सामान्य शब्द या अर्थ उक्त व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यंजना में समर्थ नहीं होते हैं। अपितु कोई विशेष ही शब्द व विशेष ही अर्थ उस विलक्षण व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यंजना का सामर्थ्य रखते हैं। वही शब्द और वही अर्थ महाकवि को अभीष्ट भी होता है, और उसी से महाकवित्व का लाभ भी होता है। आचार्य कुन्तक का कथन इस प्रसंग में द्रष्टव्य है–

**शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।**
**अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः।।**

अर्थ– विवक्षित का वाचक बहुत से पर्यायशब्दों में होता हुआ भी महाकवियों के एक मात्र शब्द ही अभीष्ट होता है तथा रसिकजनों (सहृदयों) के हृदय को आनन्दित करने वाला अपने स्वभाव से सुन्दर अर्थ ही होता है।

कारिका की वृत्ति में इसी बात की व्याख्या करते हुए ध्वनिकार लिखते हैं–

'स व्यङ्ग्योऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन, न शब्दमात्रम्। तावेव शब्दार्थौ महाकवेः प्रत्यभिज्ञेयौ। व्यङ्ग्य–व्यंजकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां महाकविलालाभो महाकवीनां, न वाच्यवाचकरचनामात्रेण।''

अर्थात् वह व्यङ्ग्य अर्थ और उसको अभिव्यक्त करने की शक्ति से युक्त कोई विशेष शब्द (ही) है। शब्दमात्र (सारे शब्द) नहीं। महाकवि (बनने के अभिलाषी) को वही शब्द और अर्थ भली प्रकार पहिचानने चाहिए। व्यङ्ग्य और व्यंजक के सुन्दर प्रयोग से ही महाकवियों को महाकविपद की प्राप्ति होती है, वाच्य–वाचक रचनामात्र से नहीं।

**प्रत्यभिज्ञापरिचय**–उपर्युक्त कारिका और वृत्ति में ग्रन्थकार के प्रत्यभिज्ञेय (प्रत्यभिज्ञा) शब्द का प्रयोग किया गया है जो साभिप्राय और विशिष्ट है। 'प्रत्यभिज्ञा' शब्द कश्मीर के प्रसिद्धदर्शन प्रत्यभिज्ञादर्शन का मूल शब्द है। आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्तपादाचार्य दोनों ही कशमीर के प्रसिद्ध आचार्य हैं अभिनवगुप्तपादाचार्य तो प्रत्यभिज्ञादर्शन के भी मान्य आचार्य हैं, अतः आनन्दवर्धन के द्वारा प्रयुक्त 'प्रत्यभिज्ञा' शब्द का अभिनवगुप्त के द्वारा ध्वन्यालोक की लोचन टीका में विशेष व्याख्या किया जाना स्वाभाविक है।

प्रत्यभिज्ञा का लक्षण है– ''तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा'। 'तत्ता'' अर्थात् तदेश और तत्काल सम्बन्ध अर्थात् पूर्वदेश और पूर्वकाल संबन्ध, तथा 'इदन्ता' अर्थात् तत्तद्देश और एतत्काल संबन्ध अवगाहन करने वाली प्रतीति को 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं। जैसे 'सोऽयं देवदत्तः, यः काश्यां दृष्टः'' यह वही देवत्त है जिसे हमने काशी में देखा था, यह 'प्रत्यभिज्ञा' का उदाहरण है। इसमें 'सः' पद 'तत्ता' अर्थात् पूर्वदेश और पूर्वकाल सम्बन्ध को 'अयम्' पद 'इदन्ता' अर्थात् एत्तद्देश और एतत्काल सम्बन्ध को बोधन करता है। इस प्रकार इस प्रतीति में दोनों का बोध होने से यह प्रतीति 'प्रत्यभिज्ञा' कहलाती है। 'प्रत्यभिज्ञा' शब्द का ठीक हिन्दी रूप 'पहिचान' शब्द हो सकता है।

लोचनकार की दृष्टि में ग्रन्थकार का यह प्रयोग विशेष तात्पर्य रखता है। यद्यपि प्रत्यभिज्ञान' ज्ञात वस्तु का ही पुनः ज्ञान होता है, तथापि यहाँ ज्ञान का विशेष रूप से अनुसन्धान को ही 'प्रत्यभिज्ञान' से समझना चाहिए। जबतक लोकव्यवहार की स्थिति है, शब्द–अर्थ अपने साधारण रूप से होते हैं किन्तु काव्य के क्षेत्र में उनकी सीमा का विस्तार हो जाता है और उनका स्वरूप भी बहुत कुछ निखर जाता है अतः केवल ज्ञात का पुनः ज्ञान न करके ज्ञात का पुनः पुनः अनुसन्धान रूप विशेष निरूपण्य या प्रत्यभिज्ञान करना चाहिए। यह प्रतिभावान् महाकवि के लिए उतना ही अपेक्षित है जितना सहृदय के लिए। जैसा कि लोचनकार ने लिखा है–

**'तेन ज्ञातस्यापि विशेषतो निरूपणमनुसन्धानात्मकमत्र प्रत्यभिज्ञानं, न तु तदेवेदमित्येतावन्मात्रम्।''**

यहाँ प्रकृत में 'तौ प्रत्यभिज्ञेयौ'' का अर्थ है कि महाकवि को उस प्रतीयमान से युक्त विशिष्ट अर्थ और उस अर्थ की अभिव्यक्त करने वाला वह विशिष्ट शब्द का ही प्रत्यभिज्ञान यत्नपूर्वक करना चाहिए। यही बात आध्यात्मिक क्षेत्र में भी है कि ईश्वर आत्मा से अभिन्न होकर भी अपना विशेष रूप से प्रत्यभिज्ञान न किए जाने पर अपना वैभव नहीं प्रकट करता। तद् वत् साहित्य में भी प्रतिफलित होता है। इसी प्रकार प्रकृत में व्यंजनक्षम शब्दार्थ की प्रत्यभिज्ञा से ही महाकविपद प्राप्त होता है।

### 8.2.5 व्यङ्ग्यप्राधान्य में वाच्य–वाचक का उपादान–

पूर्व की कारिका में व्यङ्ग्यार्थ और व्यंजक शब्द का प्राधान्य प्रतिपादित किया गया है। परन्तु व्यवहार में देखा जाता है कि कवि व्यङ्ग्य के पूर्व वाच्य–वाचक को ही ग्रहण करते हैं। यहाँ आशंका हो सकती है कि वाच्य–वाचक के प्रथम उपादान से तो उनकी प्रधानता प्रतीत होती है इस आशंका को दूर करने के लिए ग्रन्थकार ने प्रस्तुत कारिका का अवतरण किया है। जैसे– 'इदानीं व्यङ्ग्यव्यंजकयोः प्राधान्येऽपि यद् वाच्यवाचकावेव प्रथममुपादकते कवयास्तदपि युक्तमेवेत्याह–

**आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।**
**तदुपायतया तद्ददर्थे वाच्ये तदादृतः।।**

अर्थ– अब व्यङ्ग्य और व्यंजक का प्राधान्य होते हुए भी कविगण जो पहिले वाच्य और वाचक को ही ग्रहण करते हैं वह भी ठीक ही है यह कहते हैं जैसे आलोक (प्रकाश) की इच्छा करने वाला पुरुष उपाय होने के कारण दीपशिखा (दीपक) के विषय में यत्न करता है, उसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ में आदरवान् कवि वाच्यार्थ का उपादान करता है।

भावार्थ यह है कि वाच्य–वाचक का प्रथम उपादान उनकी प्रधानता को नहीं अपितु उनकी गौणता को ही सूचित करता है, क्योंकि उनका प्रथमोपादान तो केवल उपायभूत होने के कारण किया जाता है। उपेय प्रधान है और उपाय सदा गौण ही रहता है।

कारिका की वृत्ति में इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं–

''यथा आलोकार्थी सन्नपि दीपशिखायां यत्नवान् जनो भवति, तदुपायतया। नहि दीपशिखामन्तरेण आलोकः सम्भवति। तद्वद्व्यङ्ग्यमर्थं प्रत्यादृतो जनो वाच्येऽर्थे यत्नवान् भवति। अनेन प्रतिपादकस्य कवेर्व्यङ्ग्यमर्थं प्रति व्यापारो दर्शितः।''

अर्थात् जिस प्रकार आलोकार्थी होने पर भी मनुष्य दीपशिखा के विषय में, उपायरूप होने से प्रथम प्रयत्न करता है, दीपशिखा के विना आलोक नहीं हो सकता है। इसी प्रकार व्यङ्ग्य अर्थ के प्रति आदरवान् पुरुष भी वाच्यार्थ में यत्नवान् होता है। अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ साध्य है और वाच्यार्थ साधन अत साधनरूप होने से वाच्य–वाचक का प्रथम उपादान ठीक ही है। क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ के प्रकाशन के लिए ही कवि शब्दार्थ का प्रयोग करता है, क्योंकि कवि का परम लक्ष्य ही वह है।

### 8.2.6 व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वक–

केवल कवि की ही दृष्टि से नहीं अपितु सहृदय या बोध की दृष्टि से भी व्यङ्ग्यार्थ की ही प्रधानता रहती है। अब प्रतिपाद्य (वाच्यार्थ) के भी उस (व्यापार) को दिखाने के लिए कहते हैं–

**यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।**

**वाच्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः।।**

अर्थ– जैसे पदार्थ द्वारा (पदार्थों की उपस्थिति होने के बाद–पदार्थ संसर्गरूप) वाक्यार्थ की प्रतीति होती है उसी प्रकार उस (व्यङ्ग्य) अर्थ की प्रतीति वाच्यार्थ के ज्ञान पूर्वक होती है। यहाँ वस्तु से अभिप्राय है– व्यङ्ग्यरूप सारपदार्थ ही। वृत्ति में ग्रन्थकार ने लिखा है– यथा हि पदार्थद्वारेण वाक्यार्थावगमस्तथा वाच्यार्थ प्रतीति पूर्विका व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्रतिपत्तिः।

अर्थात् जिस प्रकार पदार्थद्वारा वाक्यार्थ का बोध होता है उसी प्रकार वाच्यार्थ की प्रतीतिपूर्वक व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है।

जैसे पदार्थ ज्ञान के बाद ही वाक्यार्थज्ञान होता है उसी प्रकार वाच्यार्थप्रतीति के बाद ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है। अर्थात् वाक्यार्थबोध में पदार्थोपस्थितिवत् व्यङ्ग्यार्थबोध में वाच्यार्थ का ज्ञान कारण है।

### 8.2.7 व्यङ्ग्यार्थ की ही प्रधानता, व्यङ्ग्यार्थ के प्राधान्य की अक्षुण्णता

पूर्व की कारिका में यह प्रदर्शित किया गया कि प्रतीयमानार्थ की प्रतीति वाच्यार्थप्रतीति पूर्वक ही होती है।इससे यह शंका होती है कि फिर तो वाच्यार्थवादी प्राधान्य हो जाएगा? इसका निवारण हेतु और व्यङ्ग्यार्थ के प्राधान्य की अक्षुण्णता हेतु ध्वनिकार अगली कारिका प्रवर्तित करते हैं– यथा–

इदानीं वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वकोऽपि तत्प्रतीते व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्यं यथा न विलुप्यते तथा दर्शयति–

**'स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रतिपादयन्।**
**यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते।।**

अर्थ– अब व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थ के बाद होने पर भी व्यङ्ग्यार्थ का प्राधान्य जिससे लुप्त न हो वह प्रकार दिखाते हैं– जैसे पदार्थ अपनी सामर्थ्य (योग्यता, आकांक्षा, आसत्ति) से (पदार्थसंसर्गरूप) वाक्यार्थ को प्रकाशित करते हुए भी (अपने वाक्यार्थ के धनरूप) व्यापार के पूर्ण हो जाने पर (पदार्थ) अलग प्रतीत नहीं होता है। अर्थात् व्यापार के पूर्ण हो जाने पर पदार्थ विभक्त रूप में अलग प्रतीत नहीं होता है। जैसे उपस्थित पदार्थ अपने सामर्थ्य के सहयोग के वाक्यार्थ बोध के लिए अपने को समर्पण कर देता है अर्थात् पदार्थ वाक्यार्थ बोध कराकर स्वयं रहता हुआ भी प्रधान रूप से नहीं रहता है। उसी प्रकार चमत्कार हीन नीरस वाच्यार्थ भी सहृदयों के तत्त्वार्थदर्शिनी बुद्धि में नहीं भासित होता है, अपितु प्रधान रूप में चमत्कारजनक व्यङ्ग्यार्थ ही हृदय में प्रस्फुटित होता है। यथा–

**तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम।**
**बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते।।**

अर्थ– इसी प्रकार वाच्यार्थ से विमुख सहृदयों की तत्त्वदर्शन समर्थ बुद्धि में वह प्रतीयमान अर्थ तुरन्त ही प्रतीत हो जाती है।

पदार्थं परस्पर योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति के सहयोग से ही वाक्यार्थ ज्ञान कराते हैं, यही पदार्थ का सामर्थ्य है या वाक्यार्थ बोध में ये तीनों पदार्थ के सहकारी कारण

है, अर्थात् जब तक पदों के परस्पर अन्वयबोध में बाधा का अभाव नहीं होगा, तब तक पद समुदाय वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं करा सकता है। पदों के परस्पर अन्वय में किसी प्रकार की बाधा का न होना ही योग्यता है। जैसे– 'वह्निना सिंचति' यह पद समुदाय योग्यता रहित है, क्योंकि वह्नि (अग्नि) में सिंचन की योग्यता नहीं है।

इसी प्रकार किसी पद समुदाय को वाक्य बनने के लिए उसमें आकांक्षा भी आवश्यक है, अर्थात् श्रोता की जिज्ञासा का बना रहना भी वाक्य में आवश्यक है। जैसे– गौः, हस्ती, पुरुषः इत्यादि पदसमुदाय होते हुए भी वाक्य नहीं कहे जाएँगे, क्योंकि इनमें आकांक्षा का अभाव है, क्योंकि यहाँ 'गौः' पद का उच्चारण करके आगे गच्छति आदि की आकांक्षा होती है, अतः आकांक्षा के अभाव में उक्त पदसमूह को वाक्य नहीं कहा जा सकता है।

इसी प्रकार वाक्यार्थ ज्ञान में 'आसत्ति' या पदों की अन्विति भी कारण है, जिससे अभाव में भी वाक्यार्थ बोध नहीं होता है। पदों की परस्पर सामयिक करता ही आसक्ति है। यदि – 'देवदत्तः' यह पद उच्चरित कर, पुनः एक या दो घण्टे के बाद 'गच्छति' यह कहा जाएगा, तो पदों के परस्पर सान्निध्य के अभाव में उक्त पदसमूह वाक्य नहीं माना जाएगा। अतः वाक्यार्थ ज्ञान के लिए पदसमुदाय में योग्यता, आकांक्षा व सन्निधि का होना परमावश्यक है। तात्पर्य यह है कि यदि पदज्ञान वाक्यार्थज्ञान में कारण है तो ये योग्यता आदि भी वाक्यार्थज्ञान के सहकारी कारण हैं।

जैसे उपस्थित पदार्थ अपने सामर्थ्य के सहयोग के वाक्यार्थ बोध के लिए अपने को समर्पण कर देता है अर्थात् पदार्थ वाक्यार्थ बोध कराकर स्वयं रहता हुआ भी प्रधान रूप से नहीं रहता है। उसी प्रकार चमत्कार हीन नीरस वाच्यार्थ भी सहृदयों के तत्त्वार्थदर्शिनी बुद्धि में नहीं भासित होता है, अपितु प्रधान रूप में चमत्कारजनक व्यङ्ग्यार्थ ही हृदय में प्रस्फुटित होता है। पूर्वोक्त पद्य में ग्रन्थकार का कहना है कि जिस प्रकार अपने सामर्थ्यवश वाक्यार्थ को प्रकाशित करता हुआ भी पदार्थ अपने वाक्यार्थ–प्रकाशन रूप व्यापार की निष्पत्ति की स्थिति में फिर विभक्त रूप में भासित नहीं होता है, उसी प्रकार सहृदयों की तत्त्वार्थदर्शिनी बुद्धि में भी व्यङ्ग्यार्थ ही प्रतिभासित होता है, अर्थात् वाच्यार्थ प्रतीति एकदम विघटित तो नहीं होती है, परन्तु उपायरूप से व्यङ्ग्यार्थ का प्रकाशन कर स्वयं पृथक् सत्ता के रूप में अवभासित नहीं होती है। 'तद्वत् सचेतसाम्' कारिका के 'झटित्येवावभासते' से यह सूचित किया कि यद्यपि वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में क्रम अवश्य रहता है परन्तु वह लक्षित नहीं होता, इसलिए रसादिरूप ध्वनि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि है।

वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ का द्योतन होता है। इसका अभिप्राय है कि जिस प्रकार दीपक अपने प्रकाश से घट को प्रकाशित करता हुआ अपने को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार वाच्यार्थ भी व्यङ्ग्यार्थ (प्रतीयमानार्थ) को प्रतीत कराता हुआ स्वयं भी प्रतीत होता है। वाच्यार्थ से विमुख सहृदय लोग झटिति उस व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान करते है। इससे क्रम रहता हुआ भी उन्हें क्रम रहता हुआ भी उन्हें क्रम अभिलक्षित नहीं होता है।

**मूलपाठः**

**काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।**
**क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।।5।।**

विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपंचचारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः । चादिकवेर्वाल्मीकेः निहतसहचरीविरहकातरक्रौंचाक्रन्दजनितः शोक एव श्लोकतया परिणतः । शोको हि करुणस्थायिभावः । प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि

रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात् ।

**सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।**
**अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तम् प्रतिभाविशेषम् ।।6।।**

तत् वस्तुतत्त्वं निःष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तमभिव्यनक्ति। येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदास–प्रभृतयो द्वित्राः पंचषा वा महाकवय इति गण्यन्ते ।

इदं चापरं प्रतीयमानस्यार्थस्य सद्भावसाधनं प्रमाणम् –––

**शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।**
**वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ।।7।।**

सोऽर्थो यस्मात्केवलं काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव ज्ञायते । यदि च वाच्यरूप एवासावर्थः स्यात्तद्वाच्यवाचकरूपपरिज्ञानादेवतत्प्रतीतिः स्यात् । अथ च वाच्यवाचकलक्षणमात्रकृतश्रमाणा काव्यतत्त्वार्थभावनाविमुखानां स्वरश्रुत्यादिलक्षण– मिवाऽप्रगीतानां गान्धर्वलक्षणविदामगोचर एवासावर्थः ।

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्राधान्यं

तस्यैवेति दर्शयति –––

**सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।**
**यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ।।8।।**

व्यङ्ग्योऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन , न शब्दमात्रम् । तावेव शब्दार्थौ महाकवेः प्रत्यभिज्ञेयौ । व्यङ्ग्यव्यंजकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनां , न वाच्यवाचकरचनामात्रेण ।

इदानीं व्यङ्ग्यव्यंजकयोः प्राधान्येऽपि यद्वाच्यवाचकावेव

प्रथममुपाददते कवयस्तदपि युक्तमेवेत्याह –––

**आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवांजनः ।**
**तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः ।।9।।**

यथा ह्यालोकार्थी सन्नपि दीपशिखायां यत्नवांजनो भवति तदुपायतया । न हि दीपशिखामन्तरेणालोकः सम्भवति । तद्व्यङ्ग्यमर्थंप्रत्यादृतो जनो वाच्येऽर्थे यत्नवान् भवति । अनेन प्रतिपादकस्य कवेर्व्यङ्ग्यमर्थं प्रति व्यापारो दर्शितः।।

प्रतिपाद्यस्यापि तं दर्शयितुमाह –––

**यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते ।**
**वाच्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः ।।10।।**

यथा हि पदार्थद्वारेण वाक्यार्थावगमस्तथा वाच्यार्थप्रतीतिपूर्विका व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्रतिपत्तिः।।

इदानीं वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वकत्वेऽपि तत्प्रतीतेर्व्यङ्ग्यस्यार्थस्य

प्राधान्यं यथा न व्यालुप्यते तथा दर्शयति ———

**स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रतिपादयन् ।**
**यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते ।।11।।**

## 8.3 सारांश

इस प्रकार इस इकाई में आपने ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत की कारिका 05 से 11 तक का अध्ययन किया। जिसमें आपने रसध्वनि का काव्यात्म के रूप में प्रतिपादन, वहाँ भी वाल्मीकिरामायण के आधार पर प्रतीयमान ही काव्य की आत्मा है इस तथ्य की सप्रमाण जानकारी प्राप्त की। साथ ही महाकवि की वाणी का क्या माहात्म्य है प्रतिभाविशेष से ही प्रतीयमानार्थ की अभिव्यक्ति होती है, प्रतीयमानार्थ की प्रतीति केवल काव्यमर्मज्ञों को ही होती है, शब्दार्थ के ज्ञान मात्र से अर्थात् व्याकरण कोशादि या पद–पदार्थ के ज्ञान मात्र से प्रतीयमानार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती, अपितु वहाँ काव्यतत्त्वज्ञ अर्थात् काव्य का संस्कार अपेक्षित है। काव्य में व्यङ्ग्यार्थ की ही प्रधानता होती है, प्रतीयमानार्थ की अभिव्यक्ति के लिए कवि को व्यङ्ग्य और व्यंजक का सविशेष और यत्नपूर्वक पहिचान करना अपेक्षित है, व्यङ्ग्य की प्रधानता होने पर भी कवि को प्रथम वाच्य–वाचक का उपादान अपेक्षित है जैसे की आलोकार्थी के लिए दीपशिखा का उपादान आवश्यक है, व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थज्ञानपूर्वक ही होती है, इत्यादि विषयों का अध्ययन इस इकाई में आपने किया। इस अध्ययन से उपर्युक्त विषयों का बोध आपको हुआ होगा।

## 8.4 शब्दावली

**अभिव्यजित** – प्रकाशित, अभिव्यक्त

**अभिव्यक्ति** – प्रकाशन, संप्रेषण

**पर्यवसान** – पूर्णता

**चर्वणा** – आस्वादन

**कातर** – दुःखी, व्याकुल

**अभिनिःस्पन्दन** – प्रवाहित होना, व्यक्त करना

**प्रत्यभिज्ञा** – पहिचान, कश्मीर का एक दर्शन

**स्वर** – जो अन्यों की सहायता के विना स्वयं ही श्रोता के चित्त को आनन्दित करे, संगीतशास्त्र में षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद ये सात स्वर प्रसिद्ध है।

**श्रुति** – स्वर के प्रथम अवयव को श्रुति कहते हैं।

**प्रतीति** – ज्ञान, बोध

**उपादान** – ग्रहण

**दीपशिखा** – छीपक

**अवगम** – बोध, जानना

**विवक्षित** – कथित, कवि को अभीष्ट

**काव्यतत्त्वज्ञ** – काव्य के तत्त्व को जानने वाला

**गन्धर्वविद्या** – संगीत विद्या

**अगोचर** – अप्रकाशित

## 8.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

**ध्वन्यालोकः** आनन्दवर्धनाचार्य विरचित, व्याख्याकार– आचार्य जगन्नाथपाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

**ध्वन्यालोक** व्याख्याकार– आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी

**ध्वन्यालोक** लीला संस्कृत हिन्दी व्याख्या सहित, आचार्य लोकमणि दहाल, भारतीयविद्याप्रकाशन, दिल्ली

**संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास** पी.वी. काणे, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली

**ध्वन्यालोक** व्याख्याकार– के.कृष्णमूर्ति, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

**ध्वन्यालोक** व्याख्याकार– डॉ. रामसागरत्रिपाठी, मोतीलालबनारसीदास, दिल्ली

**काव्यशास्त्रविमर्श** डॉ. कृष्णकुमार, मयङ्क प्रकाशन, कनखल, हरिद्वार

**ध्वन्यालोक** व्याख्याकार– डॉ. बालप्रियाटीकासमन्वित, काशी संस्कृत सीरिज, वाराणसी

**ध्वनिसिद्धान्त** डॉ. राममूर्तिशर्मा, अजन्ता पब्लिकेशन्स, जवाहरनगर, नई दिल्ली

**ध्वन्यालोकविमर्श** प्रो. माणिकगोविन्द चतुर्वेदी, अक्षरप्रकाशन, विश्वासनगर, दिल्ली

**आनन्दवर्धन** लेखक– प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी, मध्यप्रदेश, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

## 8.6 बोध प्रश्न

1. प्रतीयमान रस ही काव्यात्मा है इस तथ्य को वाल्मीकिरामायण के आधार पर सिद्ध करें।
2. कवि वाणी के माहात्म्यम को प्रदर्शित करते हुए प्रतिभाविशेष के वैशिष्ट्य को निरूपित करें।
3. प्रतीयमानार्थ की प्रतीति काव्यमर्मज्ञों को ही होती है, इस तथ्य का प्रतिपादन करें।
4. सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।

यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः।।

इस कारिका की निर्वचना करें।

5. वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वक ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है। इस तथ्य को सप्रमाण निरूपित करें।

6. आलोकार्थी यथा दीपशिखायामयत्नवांजनः।

तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः।।

इस कारिका का विश्लेषण करें

# इकाई 9 (ध्वन्यालोकः) प्रथम उद्योत, कारिका 11 से 14 तक

**इकाई की रूपरेखा–**

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 इकाई का शीर्षक–(ध्वनि लक्षण निरूपण)

- 9.2.1 वाच्य की प्रथम प्रतीति होने पर भी व्यङ्ग्यार्थ के प्राधान्य का उपपादन
- 9.2.2 ध्वनिकाव्य का लक्षण
- 9.2.3 अलंकारों में ध्वनि के अन्तर्भाव का खण्डन, व ध्वन्यभाववादियों का समाधान
- 9.2.4 अलंकारों में ध्वनि के अन्तर्भाववाद बोध खण्डन का उपसंहार
- 9.2.5 'सूरिभिः कथितः' इस कारिका भाग का व्याख्यान।

9.3 ध्वनि के दो मुख्य भेद एवं दोनों के उदाहरण

9.4 सारांश

9.5 शब्दावली

9.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

9.7 बोध प्रश्न

## 9.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप–

- काव्यों में व्यङ्ग्यार्थ की ही प्रधानता होती है इस तथ्य को प्रमाणान्तर से निरूपित करने में समर्थ होंगे।
- ध्वनिकाव्य के लक्षण एवं स्वरूप को बताने मे सक्षम होंगे।
- अभाववादियों के मत का खण्डन करने की में समर्थ हो सकेंगे।
- समासोक्ति अलंकार में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता इस तथ्य को जान सकेंगे।
- आक्षेपालंकार में भी ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता इस तथ्य को बताने में सक्षम होंगे।
- अन्य विविध अर्थालंकारों में ध्वनि के अन्तर्भाव का खण्डन करने में समर्थ हो सकेंगे।
- वैयाकरणों के अनुसार ध्वनि के स्वरूप को जान सकेंगे।
- ध्वनि के मुख्य दो भेदों को उदाहरण के द्वारा प्रदर्शित करने में समर्थ होंगे।

## 9.1 प्रस्तावना

साहित्यशास्त्र में षट्सिद्धान्त प्रसिद्ध है– यथा– रससिद्धान्त, अलंकारसिद्धान्त, रीतिसिद्धान्त, ध्वनिसिद्धान्त, वक्रोक्तिसिद्धान्त और औचित्यसिद्धान्त। इन सिद्धान्तों में ध्वनिसिद्धान्त के प्रवर्तक के रूप में आचार्य आनन्दवर्धन का नाम सर्वस्वीकृत है। आचार्य आनन्दवर्धन के द्वारा अपनी प्रसिद्ध कृति ध्वन्यालोक में ध्वनिसिद्धान्त का प्रतिपादन सविशेष किया गया है। चार उद्योतों में विभक्त इस ग्रन्थ के प्रथम उद्योत में आनन्दवर्धन के द्वारा भी ध्वनिविरोधी आचार्यों के मत–मतान्तरों का सम्भावना व उपलब्धसाक्ष्य के आधार पर पहले उपस्थापन किया गया और तत्पश्चात् उन मतों का तार्किक रीति से खण्डन प्रस्तुत कर ध्वनिसिद्धान्त की निर्विवाद व निर्भ्रान्त स्थापना की गई जो परिवर्ति आचार्यों के लिए अनुकरणीय हुआ। आचार्य का दृढ मत है कि काव्य में वर्णित सभी तत्त्व जब ध्वनि का संस्पर्श पाते हैं तभी उसमें रमणीयता आती है। और ध्वनि का संस्पर्श होता है– व्यंजनाव्यापार के द्वारा। इसी क्रम में आचार्य के द्वारा ध्वनि का स्वरूप निरूपण किया गया जो अपने आप में अपूर्व व विलक्षण है।

इस इकाई में आप विशेष रूप से व्यङ्ग्यार्थ (प्रतीयमानार्थ) के प्राधान्य की अक्षुणाता ध्वनि का लक्षण एवं स्वरूप, ध्वनि–काव्य के दो सामान्य भेद एवं उसके उदाहरण, अभाववादियों के मतों का निराकरण एवं अलंकारों में ध्वनिके अन्तर्भाव का खण्डन, ध्वनि का महाविषय के रूप में (अङ्गीरूप में) प्रतिपादन, गुणालंकार–रीति वृत्ति प्रभृति तत्त्वों का अङ्गरूप में निरूपण वैयाकरणों के अनुसार ध्वनि का स्वरूप निरूपण ध्वनि के सामान्य दो भेद प्रभृति अनेक विषयों का अध्ययन करेंगे। अध्ययनोपरान्त आप ध्वनि के स्वरूप पर प्रकाश डालने में सक्षम होंगे।

## 9.2 ध्वनिलक्षणनिरूपण

वस्तुतः इस इकाई के अन्तर्गत यद्यपि कई विषय संगृहीत है तथापि प्रधानता के कारण इकाई का शीर्षक ध्वनिलक्षणनिरूपण रखा गया है। ध्वनि के लक्षण का विशेष एवं विस्तारपूर्वक निरूपण 9.2.2 में किया जाएगा।

### 9.2.1 वाच्य की प्रथम प्रतीति होने पर भी व्यङ्ग्यार्थ के प्राधान्य का उपपादन

पूर्व की कारिका में यह प्रदर्शित किया गया कि प्रतीयमानार्थ की प्रतीति वाच्यार्थप्रतीति पूर्वक ही होती है।इससे यह शंका होती है कि फिर तो वाच्यार्थवादी प्राधान्य हो जाएगा? इसका निवारण हेतु और व्यङ्ग्यार्थ के प्राधान्य की अक्षुण्णता हेतु ध्वनिकार अगली कारिका प्रवर्तित करते हैं– यथा–

जैसे उपस्थित पदार्थ अपने सामर्थ्य के सहयोग के वाक्यार्थ बोध के लिए अपने को समर्पण कर देता है अर्थात् पदार्थ वाक्यार्थ बोध कराकर स्वयं रहता हुआ भी प्रधान रूप से नहीं रहता है। उसी प्रकार चमत्कार हीन नीरस वाच्यार्थ भी सहृदयों के तत्त्वार्थदर्शिनी बुद्धि में नहीं भासित होता है, अपितु प्रधान रूप में चमत्कारजनक व्यङ्ग्यार्थ ही हृदय में प्रस्फुटित होता है। यथा–

**तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम।**
**बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते।।**

अर्थ– इसी प्रकार वाच्यार्थ से विमुख सहृदयों की तत्त्वदर्शन समर्थ बुद्धि में वह प्रतीयमान अर्थ तुरन्त ही प्रतीत हो जाती है।

पदार्थं परस्पर योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति के सहयोग से ही वाक्यार्थ ज्ञान कराते हैं, यही पदार्थ का सामर्थ्य है या वाक्यार्थ बोध में ये तीनों पदार्थ के सहकारी कारण है, अर्थात् जब तक पदों के परस्पर अन्वयबोध में बाधा का अभाव नहीं होगा, तब तक पद समुदाय वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं करा सकता है। पदों के परस्पर अन्वय में किसी प्रकार की बाधा का न होना ही योग्यता है। जैसे– 'वह्निना सिंचति' यह पद समुदाय योग्यता रहित है, क्योंकि वह्नि (अग्नि) में सिंचन की योग्यता नहीं है। इसी प्रकार किसी पद समुदाय को वाक्य बनने के लिए उसमें आकांक्षा भी आवश्यक है, अर्थात् श्रोता की जिज्ञासा का बना रहना भी वाक्य में आवश्यक है। जैसे– गौः, हस्ती, पुरुषः इत्यादि पदसमुदाय होते हुए भी वाक्य नहीं कहे जाएँगे, क्योंकि इनमें आकांक्षा का अभाव है, क्योंकि यहाँ 'गौः' पद का उच्चारण करके आगे गच्छति आदि की आकांक्षा होती है, अतः आकांक्षा के अभाव में उक्त पदसमूह को वाक्य नहीं कहा जा सकता है।

इसी प्रकार वाक्यार्थ ज्ञान में 'आसत्ति' या पदों की अन्विति भी कारण है, जिससे अभाव में भी वाक्यार्थ बोध नहीं होता है। पदों की परस्पर सामयिक करता ही आसक्ति है। यदि – 'देवदत्तः' यह पद उच्चरित कर, पुनः एक या दो घण्टे के बाद 'गच्छति' यह कहा जाएगा, तो पदों के परस्पर सान्निध्य के अभाव में उक्त पदसमूह वाक्य नहीं माना जाएगा। अतः वाक्यार्थ ज्ञान के लिए पदसमुदाय में योग्यता, आकांक्षा व सन्निधि का होना परमावश्यक है। तात्पर्य यह है कि यदि पदज्ञान वाक्यार्थज्ञान में कारण है तो ये योग्यता आदि भी वाक्यार्थज्ञान के सहकारी कारण हैं।

पूर्वोक्त पद्य में ग्रन्थकार का कहना है कि जिस प्रकार अपने सामर्थ्यवश वाक्यार्थ को प्रकाशित करता हुआ भी पदार्थ अपने वाक्यार्थ–प्रकाशन रूप व्यापार की निष्पत्ति की स्थिति में फिर विभक्त रूप में भासित नहीं होता है, उसी प्रकार सहृदयों की तत्त्वार्थदर्शिनी बुद्धि में भी व्यङ्ग्यार्थ ही प्रतिभासित होता है, अर्थात् वाच्यार्थ प्रतीति एकदम विघटित तो नहीं होती है, परन्तु उपायरूप से व्यङ्ग्यार्थ का प्रकाशन कर स्वयं पृथक् सत्ता के रूप में अवभासित नहीं होती है। 'तद्वत् सचेतसाम्' कारिका के 'झटित्येवावभासते' से यह सूचित किया कि यद्यपि वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में क्रम अवश्य रहता है परन्तु वह लक्षित नहीं होता, इसलिए रसादिरूप ध्वनि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि है।

वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ का द्योतन होता है। इसका अभिप्राय है कि जिस प्रकार दीपक अपने प्रकाश से घट को प्रकाशित करता हुआ अपने को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार वाच्यार्थ भी व्यङ्ग्यार्थ (प्रतीयमानार्थ) को प्रतीत कराता हुआ स्वयं भी प्रतीत होता है। वाच्यार्थ से विमुख सहृदय लोग झटिति उस व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान करते है। इससे क्रम रहता हुआ भी उन्हें क्रम रहता हुआ भी उन्हें क्रम अभिलक्षित नहीं होता है।

### 9.2.2 ध्वनिकाव्य का लक्षण

अभी तक ध्वनि के विषय में उसकी सत्ता, साधुभाव, उत्तमता, श्रेष्ठता, ............. एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्यार्थस्य सदभावं प्रतिपाद्य प्रकृत उपयोगन्नाह–

**यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।**
**व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।**

अर्थ– इस प्रकार वाच्यार्थ से अतिरिक्त व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता तथा प्राधान्य का प्रतिपादन करके प्रकृत में उसका उपयोग दिखलाते हुए कहते हैं–

जहाँ अर्थ अपने को (स्व) अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस (प्रतीयमान) अर्थ को अभिव्यक्त करते है, उस काव्यविशेष को विद्वान् लोग ध्वनि (काव्य) कहते हैं।

इसी बात को कारिका की वृत्ति में और स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं–

''यत्रार्थो वाच्यविशेषः, वाचकविशेषः शब्दो वा, तमर्थं व्यंक्तः, स काव्यविशेषो ध्वनिरिति। अनेन वाच्यवाचकचारुत्वहेतुभ्य उपमादिभ्योऽनुप्रासादिभ्यश्च विभक्त एव ध्वनेर्विषय इति दर्शितम्।''

अर्थात् जहाँ वाच्यविशेष, अथवा वाचकविशेष शब्द, उस (प्रतीयमान) अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं उस काव्यविशेष को 'ध्वनिकाव्य' कहते हैं।

इससे वाच्यवाचक के चारुत्वहेतु उपमादि और अनुप्रासादि से अलग ही ध्वनि का विषय है यह दिखलाया गया।

व्याख्या – यहाँ 'वा' शब्द अर्थ विकल्प व समुच्चय दोनों है। 'यत्रार्थः शब्दो वा' में 'वा' पद शब्द और अर्थ के प्राधान्याभिप्रायेण विकल्प को बोधन करता है। अभिव्यक्ति में कारण दोनों होते हैं परन्तु प्राधान्य शब्द और अर्थ में एक का ही होता है। इसीलिए शाब्दी और आर्थी दो प्रकार की व्यंजना मानी गयी है। साहित्यदर्पणकार ने लिखा है–

**'शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः।**
**एकस्य व्यंजकत्वे तदन्यस्य सहकारिता।।'**

वस्तुतः अविवक्षितवाच्यध्वनि में शब्द की प्रधानता होते हुए भी अर्थ की सहकारिता रहती है और विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि में अर्थ की प्रधानता के साथ शब्द भी सहकारी होता ही है। प्राधान्य की अपेक्षा यहाँ शब्दार्थ का विकल्प है और सामान्य की अपेक्षा शब्दार्थ का समुच्चय है। इस प्रकार सर्वत्र ध्वनन शब्द और अर्थ दोनों का व्यापार है। 'स्वश्चार्थश्च स्वार्थौ। तौ गुणीभूतौ याभ्यां यथासंख्येन तेन अर्थो गुणीकृतात्मा, शब्दश्च गुणीकृताभिधेयः। 'व्यंक्तः' यह द्विवचन इस बात का सूचक है कि व्यङ्ग्य अर्थ की अभिव्यक्ति में शब्द और अर्थ दोनों ही कारण होते हैं किन्तु एक प्रधान कारण दूसरा सहकारी। शब्द–अर्थ की इसी सम्मिलित व्यंजकता के कारण 'व्यंक्तः (द्योतयतः) इस द्विवचन के प्रयोग की सार्थकता भी है। भट्टनायक द्वारा इस का दूषण उनका अज्ञान प्रकट करता है।

उक्त ध्वनिलक्षणकारिका में ध्वनि को काव्यविशेष कहा है। लोचनकार का कहना है कि 'काव्यविशेषः' इस पद का दो तरह से समास हो सकता है– 'काव्यं च तद्विशेषश्चासौ काव्यस्य वा विशेषः। यदि केवल काव्यविशेष को ही ध्वनि मान लिया जाए, तो काव्य (सामान्य) में ध्वनित्व नहीं आएगा अर्थात् काव्यमात्र को ध्वनि नहीं कह सकते हैं। अतः कर्मधरय समास द्वारा काव्य व उसके वैशिष्ट्य का भी ग्रहण किया गया है।

तात्पर्य यह है कि ध्वनि काव्य का आत्मा है, परन्तु केवल ध्वनि से काव्य का व्यवहार नहीं होगा, अपितु ध्वनिविशेष से ही काव्य का व्यवहार होगा। इसका वैशिष्ट्य है गुणालंकारादि से शब्दार्थयुगल का संस्कृत होना, जैसा कि लोचनकार का कहना है– ''काव्यग्रहणाद् गुणालंकारोपस्कृतशब्दार्थपृष्ठपाती ध्वनि लक्षण'आत्मे'त्युक्तम्। अतः 'काव्यविशेषः' यह पद यहाँ साभिप्राय है। यदि केवल ध्वनि के अस्तित्व मात्र से 'काव्य'

मान लेने की छूट दे दी जाय तो मीमांसकों के यहाँ प्रसिद्ध 'श्रुतार्थापत्ति' का स्थल भी 'काव्य' के रूप में व्यवहृत होगा। जैसे 'पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुंक्ते' इस श्रुतवाक्य से जो दिन में भोजन के अभाव में पीनत्व रूप अर्थ ज्ञात होता है उसकी अन्यथानुपपत्ति को लेकर 'रात्रौ भुंक्ते' इस रात्रिभोजन रूप अर्थ के प्रतिपादक अन्य वाक्य की कल्पना करते हैं। परन्तु यहाँ 'ध्वनि' होते हुए भी गुण–अलंकार से उपस्कृत शब्द–अर्थ का अभाव है अतः यहाँ काव्य–व्यवहार नहीं हो सकता।

यहाँ ध्वनि शब्द का प्रयोग, (शब्द, अर्थ, व्यापार, व्यङ्ग्य व काव्यविशेष) इस समुदाय में किया गया है।

ध्वनितीति यः सः शब्दः अर्थो वा ध्वनिः, व्यङ्ग्यो वा ध्वन्यते इति व्यापारो वा।' ध्वन्यतेऽस्मिन् इति ध्वनि' इस अधिकरण द्वारा काव्यविशेष ध्वनि होगा। अतः ध्वनि शब्द यहाँ केवल व्यष्टि बोध्क न होकर समष्टिपरक है। वस्तुतः कारिका द्वारा तो प्रधानतया समुदाय ही काव्यरूप मुख्यरूप से 'ध्वनि' है, ऐसा प्रतिपादन किया है।

### 9.2.3 अलंकारों में ध्वनि के अन्तर्भाव का खण्डन, व ध्वन्यभाववादियों का समाधान

ध्वन्यालोक की प्रथमकारिका के व्याख्यान में ध्वनि के अभाववादियों के विकल्पों की जो संभावना की गयी थी, अब उन विकल्पों का यथाक्रम ग्रन्थकार समाधन प्रस्तुत कर रहे हैं।

**1. अभाववाद के प्रथमविकल्प का समाधन–**

प्रथम ध्वनि–अभाववादी का कथन था कि गुणालंकार से अतिरिक्त ध्वनि नाम की कोई वस्तु नहीं है। अर्थात् ध्वनि गुणालंकार स्वरूप ही है। उत्तर में ध्वनिकार का कथन है कि पूर्वोक्त ध्वनि की सत्ता साधुभाव व लक्षण प्रमाणादि से यह निश्चित है कि ध्वनि व गुणालंकारों का विषय विभाग पृथक् पृथक् है, क्योंकि वाच्यवाचक के चारुत्वहेतु उपमादि अलंकार है और संघटनाश्रित चारुत्व के हेतु गुणादि है।

इस प्रकार गुणालंकार तो वाच्यवाचकभाव निष्ट हैं, परन्तु ध्वनि तो व्यङ्ग्य–व्यंजक भाव का समाश्रयण करता है, अतः दोनों का पृथक् आधर होने से गुणालंकारों में ध्वनि का न तो अन्तःपात हो सकता है और न एकरूपता ही हो सकती है। फलतः विरुद्धाधिकरणवृत्ति होने से ध्वनि का अपना पृथक् विभाग हैं ध्वनि का विषय अपने आप में पूर्ण है। जैसा कि ध्वनिकार ने वृत्ति में लिखा हैं– अनेन वाच्यवाचकचारुत्वहेतुभ्य उपमादिभ्योऽनुप्रासादिभ्यश्च विभक्त एव ध्वनेर्विषय इति दर्शितम्।

अर्थात् वाच्य और वाचक की चारुता के हेतु उपमादि और अनुप्रास आदि से ध्वनि का विषय विभक्त ही है, यह दिखाया। अतः ध्वनि को उपमा आदि के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता है। उपमा आदि वाच्य और वाचक के चारुत्व के हेतु हैं किन्तु ध्वनि का प्राण व्यङ्ग्य–व्यंजक भाव है।

**2. अभावादा के द्वितीय विकल्प का निराकरण–**

द्वितीय ध्वन्यभाववादी प्रसिद्ध प्रस्थानवादी हैं। इनका कथन था कि काव्य का प्रस्थान तो प्रसिद्ध ही है, जैसा कि परम्प्रा से चला आया है। शब्दार्थयुगल काव्य का शरीर है तो गुणालंकार उसके शोभाधयक तत्त्व है। उक्त प्रस्थान से इतर तो

काव्य का कोई प्रकार ही नहीं बनता है, यदि किसी ने किसी अन्य प्रकार की कोई कल्पना कर भी ली तो समस्त पण्डितमण्डल तो उसे मानने के लिए तैयार नहीं है। इसके उत्तर में ग्रन्थकार का कथन है कि लक्ष्य के अनुसार ही लक्षण की व्यवस्था होती है, यदि ध्वनितत्त्व प्रसिद्ध रामायण–महाभारतादि महाकाव्यों में सुप्रतीत है तो लक्षणाप्रसिद्धि उसकी बाध्क नहीं हो सकती है। लक्ष्यग्रन्थों की परीक्षा करने पर सहृदयहृदयानन्ददायक काव्य का प्राणस्वरूप सारभूत वह ध्वनितत्त्व सिद्ध हो चुका है। अतः दुराग्रही लक्षणकारों की असमीक्ष्यकारितावश वह अनुपलब्ध है, न कि उसका अभाव है। उससे भिन्न (ध्वनितत्त्व से भिन्न) काव्य चित्रकाव्य ही है यह भागे वर्णित किया जाएगा।

जैसा कि ग्रन्थकार ने कहा है– 'यदप्युक्तम्– प्रसिद्धप्रस्थानातिक्रमिणो मार्गस्य काव्यहानेर्ध्वनिर्मास्ति' इति तदप्ययुक्तम्। यतो लक्षणकृतामेव स केवलं न प्रसिद्धः, लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदयहृदयाह्लादकारि काव्यतत्त्वम्। ततोऽन्यच्चित्रमेवेत्यग्रे दर्शयिष्यामः।''

अर्थ– और जो यह कहा था कि प्रसिद्ध मार्ग से भिन्न मार्ग में काव्यत्व ही नहीं रहेगा इसलिए ध्वनि नहीं है' वह ठीक नहीं है, क्योंकि यह केवल (उन) लक्षणकारों के ही प्रसिद्ध (ज्ञात) नहीं है, परन्तु लक्ष्यग्रन्थों (रामायण–महाभारत प्रभृति) की परीक्षा करने पर तो सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करने वाला काव्य का सारभूत तत्त्व वही ध्वनि है। उससे भिन्न काव्य चित्र (काव्य) ही है, यह हम आगे दिखलायेंगे।

3. **अभाववाद के तृतीय विकल्प का समाधान–**

तृतीय ध्वन्यभाववादी जिसे अन्तर्भाववादी भी कहा जाता है। इस पक्ष का कथन था कि यदि आप ध्वनिसिद्धान्तवादी ध्वनि को काव्य के चारुत्व का हेतु मानते हैं, तो फिर काव्य के सुप्रसिद्ध चारुत्व हेतु जो गुणालंकार है इन्हीं मे कहीं ध्वनि का अन्तर्भाव मान लिया जाए। अतः ध्वनिनामक कोई विलक्षण पदार्थ नहीं है।

इसके उत्तर में ध्वनिकार का कथन है कि – यदप्युक्तम्– ''कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तालंकारादिप्रकारेष्वन्तर्भावः' इति, तदप्यसमीचीनम्। वाच्यवाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने व्यङ्ग्यव्यंजकसमाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वनेः कथमन्तर्भावः। वाच्यवाचकचारुत्वहेतवो हि तस्याङ्गभूताः, स त्वङ्गिरूप एवेति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्।

अर्थ– और जो यह कहा था कि यदि वह रमणीयता का अतिक्रमण नहीं करता है तो उक्त (गुण–अलंकारादि) चारुत्वहेतुओं में ही उस ध्वनि का अन्तर्भाव हो जाता है' वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि केवल वाच्यवाचकभाव पर आश्रित मार्ग के अन्दर व्यङ्ग्य–व्यंजकभाव पर आश्रित ध्वनि का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है। फिर वाच्य–वाचक की शोभा को (चारुत्व) बढाने वाले उपमा, अनुप्रासादि अलंकार तो ध्वनि के उपकारक हैं ध्वनि के अङ्गरूप हैं ध्वनि तो महाविषय होने के कारण अङ्गी (प्रधन रूप) है, अतः उस व्यापक ध्वनि का, सीमित उन अलंकारों में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है, इस बात का प्रतिपादन आगे करेंगे। इस परिकर श्लोक के द्वारा उक्त बातों का उपसंहार करते हैं–

**व्यङ्ग्यव्यंजकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः।**
**वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्तःपातिता कुतः।।**

अर्थात्– व्यङ्ग्यव्यंजकभाव मूलक ध्वनि का वाच्यवाचकमात्र के चारुत्व हेतुओं में कैसे अन्तर्भाव हो सकता है। निर्णीत हुआ कि अन्तर्भाव नहीं हो सकता है।

**अलंकारों में ध्वनि के अन्तर्भाव की आशंका एवं उसका निराकरण–**

पुनः अलंकारवादी पूर्वपक्षी का कथन है कि ऐसे स्थल जहाँ प्रतीयमान अर्थ की स्पष्टतया प्रतीति नहीं होती है उसमें ध्वनि स्वीकार न किया जाए, परन्तु जहाँ प्रतीयमान अर्थ की विशदतया प्रतीति हो रही है– जैसे– समासोक्ति, आक्षेप अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति, अपह्नुति, दीपक, पर्यायोक्त, संकर आदि अलंकारों में तो ध्वनि का अन्तर्भाव हो सकता है।

इस मत के निराकरण के लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी संगत नहीं है। क्योंकि ध्वनि के लक्षण में ही हमने बता दिया है कि– ''उपसर्जनीकृतस्वार्थौ'' इति। अर्थात् जहाँ अर्थ अपने आपको गुणीभूत करके और शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके किसी चमत्कार पूर्ण अर्थान्तर (विशेष अर्थ) को अभिव्यक्त करता है, वहीं काव्य होता है। अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ की प्रधनता में ही ध्वनि का व्यवहार होता है, समासोक्ति आदि में तो व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता नहीं रहती है। इन अलंकारों में व्यग्यार्थ गौण रहता है अतः इन्हें गुणीभूत व्यङ्ग्य भी कहते हैं। जैसा कि ग्रन्थकार ने वृत्ति में लिखा है– ननु यत्र प्रतीयमानार्थस्य वैशद्येनाप्रतीतिः स नाम मा भूद् ध्वनेर्विषयः। यत्र तु प्रतीतिरस्ति, यथा समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्तविशेषोक्तिपर्यायोक्त्यापह्नुतिदीपकसंकरालंकारादौ, तत्र ध्वनेरन्तर्भावो भविष्यति इत्यादि निराकर्तुमभिहितम्– ''उपसर्जनीकृतस्वार्थौ' इति। अर्थोगुणीकृतात्मा गुणीकृताभिध्ेयः शब्दो वा यत्रार्थान्तरमभिव्यनक्ति स ध्वनिरिति। तेषु कथं तस्यान्तर्भावः। व्यङ्ग्यप्रधान्ये हि ध्वनिः। न चैतत् समासोक्त्यादिध्वस्ति।''

समासोक्ति में ध्वनि के अन्तर्भाव का निषेध– समासोक्ति अलंकार में ध्वनिके अन्तर्भाव का निषेध करते हुए ग्रन्थकार पहले समासोक्ति अलंकार का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यथा– समासोक्तौ तावत्–

**उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।**
**यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम्।।**

अर्थ– सन्ध्याकालीन आरुण्य (लालिमा) को धरण किये हुए (दूसरे पक्ष में प्रेमोन्मत्त) शशी (अर्थात् चन्द, पक्षान्तर में पुलिङ्ग शशी पद से व्यङ्ग्य नामक) ने निशा (रात्रि, पक्षान्तर में स्त्रीलिङ्ग निशा शब्द से नायिका) के चंचल तारों से युक्त मुख को इस प्रकार ग्रहण किया कि राग के कारण सारा तिमिर रूप वस्त्र गिर जाने पर भी उसे (निशा तथा नायिका को) दिखलायी नहीं दिया।'

भामह ने समासोक्ति का लक्षण निम्नलिखित प्रकार से किया है–

**यत्रोक्तौ गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानैर्विशेषणैः।**
**सा समासोक्तिरुदिता संक्षिप्तार्थतया बुधैः।।**

भामह, काव्यालंकार 2.79

जिस उक्ति में, समान विशेषणों के कारण प्रस्तुत से अन्य अर्थ की प्रतीति से उस उक्ति को संक्षिप्तार्थ होने से (एक साथ प्रकृत और अप्रकृत दोनों का वर्णन करने से) समासोक्ति कहते हैं।

उक्त उदाहरण में सन्ध्याकाल में चन्द्रोदय का वर्णन कवि कर रहा है। उसमें निशा और शशी का वर्णन प्रकृत है। निशा और शशी के समान लिङ्ग और समान विशेषणों के कारण नायिका–नायक की प्रतीति होती है और उनके व्यवहार का समारोप निशा और शशी पर होने से यह समासोक्ति अलंकार माना जाता है। पूर्वपक्ष यह है कि यहाँ नायक–नायिका व्यवहार व्यङ्ग्य है, वाच्य नहीं। अर्थात् इस श्लोक में समासोक्ति के साथ ध्वनि भी है। इसलिए ध्वनि का अन्तर्भाव समासोक्ति अलंकार में माना जा सकता है।

इसका निषेध करते हुए ध्वनिकार लिखते हैं– 'इत्यादौ व्यङ्ग्येनानुगतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते। समारोपितनायिकानायकव्यवहारयोर्निशाशशिनोरेव वाक्यार्थत्वात्।

अर्थ– यहाँ समारोपित नायक–नायिकाव्यवहार से युक्त शशी और निशा के ही वाक्यार्थ होने से, व्यङ्ग्य से अनुगत वाच्य ही प्रधानतया प्रतीत होता है। अर्थात् व्यङ्ग्य का प्राधान्य न होने से यहाँ ध्वनि नहीं है अतः ध्वनि का समासोक्ति में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है।

आक्षेपालंकार में ध्वनि के अन्तर्भाव का निषेध–समासोक्ति के समान आक्षेपालंकार में भी ध्वनिके अन्तर्भाव का निषेध दिखाते हुए ग्रन्थकार कहते हैं–

'आक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाक्षेपिणोऽपि वाच्यस्यैव चारुत्वं प्राधान्येन वाक्यार्थ आक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव ज्ञायते। तथाहि तत्र शब्दोपारूढो विशेषाभिधानेच्छया प्रतिषेधरूपो य आक्षेपः स एव व्यङ्ग्यविशेषमाक्षिपन् मुख्यं काव्यशरीरम्।

अर्थात् आक्षेपालंकार में भी व्यङ्ग्यविशेष का आक्षेप करानेवाला होनेपर भी वाच्य का ही चारुत्व प्राधान्य है। क्योंकि आक्षेपवचन के सामर्थ्य से ही प्रधानतः वाक्यार्थ प्रतीत होता है। क्योंकि वहाँ (आक्षेपालंकार में ) विशेष के बोधन की इच्छा से शब्दोपात्त प्रतिषेधरूप जो आक्षेप है, वही व्यङ्ग्यविशेष का आक्षेप कराता हुआ मुख्य काव्यशरीर है। अतः आक्षेपालंकार में भी ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता है।

वस्तुतः चारुत्वोत्कर्ष ही वाच्य और व्यङ्ग्य के प्राधान्य का नियामक है। जैसे– चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा। यथा–

**अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तपुरःसरः।**
**अहो दैवगतिः कीदृक् तथापि न समागमः।।**

सन्ध्या (नायिका) अनुराग (प्रेम) से युक्त है और दिवस (नायक) उसके सामने सरक रहा है (उसका भार बढ रहा है) अहो दैवगति कैसी है कि तब भी समागम नहीं होता।

यहाँ उभयानुराग होने पर भी गुरुजनों की परतन्त्रता आदि का कारण व्यङ्ग्य विशेष का यद्यपि आक्षेप हो रहा है, परन्तु चमत्कार, दिवस व सन्ध्यारूप वाच्यार्थ में ही है। अतः उक्त स्थल में भी व्यङ्ग्य की प्रधनता के न होने से ध्वनि का उसमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। जिस प्रकार दीपक व अपह्नुति आदि में भी व्यङ्ग्यरूप से उपमा की प्रतीति होने पर भी मुख्यरूप से उपमा की विवक्षा न होने के कारण, उसका व्यवहार नहीं होता है, उसी प्रकार आक्षेपालंकार में भी व्यङ्ग्य के रहने पर भी अत्यन्त रमणीय वाच्यार्थ का ही मुख्य रूप से व्यवहार होता है।

इस प्रकार दीपक व अपह्नुति अलंकार में भी ध्वनि के अन्तर्भाव का निषेध प्रदर्शित किया गया। इसी प्रकार अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति में भी व्यङ्ग्य के अप्रधान रहने पर

ध्वनि के अन्तर्भाव की कोई सम्भावना ही नहीं की जा सकती है। इस अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति के उदाहरण में भी प्रकरण के सामर्थ्य से व्यङ्ग्य की प्रतीति मात्र हो जाती है, परन्तु उसी प्रतीति के कारण कोई चारुत्व की निष्पत्ति नहीं होती है। अतः यहाँ भी व्यङ्ग्य की प्रधनता नहीं है। फलतः इसमें भी ध्वनि के अन्तर्भाव की सम्भावना नहीं है।

पर्यायोक्त अलंकार में ध्वनि के अन्तर्भाव की आशंका पर्यायोक्त अलंकार में भी यदि व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता हो तो उस अलांकर का ध्वनि (अलंकार ध्वनि) में अन्तर्भाव किया जा सकता है, न कि ध्वनि का उस अलंकार में। क्योंकि ध्वनि तो महाविषय और अङ्गी अर्थात् प्रधानरूप सेप्रतिपादित किया जाएगा। वस्तुतः भामह द्वारा उदाहृत पर्यायोक्त में तो व्यङ्ग्य की प्रधानता ही नहीं है, क्योंकि उसमें वाच्य का गौणत्व विवक्षित नहीं है। अर्थात् वाच्य ही प्रधान है, अतः उसे ध्वनि नहीं कहा जा सकता।

अपह्नुति तथा दीपक में वाच्य का प्राधान्य और व्यङ्ग्य का वाच्यानुगामित्व प्रसिद्ध ही है।

अतः वहाँ भी ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। जैसा कि ग्रन्थकार कहते हैं– ''पर्यायोक्तोऽपि यदि प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वं तद् भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भावः, न तु ध्वनेस्तत्रान्तर्भावः। तस्य महाविषयत्वेन, अङ्गित्वेन च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। न पुनः पर्यायोक्ते भामहोदाहृतसदृशे व्यङ्ग्यस्यैव प्राधान्यम्। वाच्यस्य तत्रोपसर्जनीभावेनाविवक्षितत्वात्। अपह्नुतिदीपकयोस्तु पुनर्वाच्यस्य प्राधान्यं व्यङ्ग्यस्य चानुयायित्वं प्रसिद्धमेव।

इसी प्रकार ग्रन्थकार ने संकरालंकार एवं अप्रस्तुतप्रशंसालंकार में भी ध्वनि के अन्तर्भाव का वितारपूर्वक निषेध प्रदर्शित करते हुए यह स्थापित किया कि ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकारों में नहीं किया जा सकता, अतः जो अभाववादी ऐसी संभावना कर ध्वनि का अभाव है इस कारण ध्वनि का निरूपण नहीं किया, उनका चिन्तन ठीक नहीं है। ध्वनि है और ध्वनि की सत्ता को पारिभाषित भी किया गया है।

### 9.2.4 अलंकारों में ध्वनि के अन्तर्भाववाद बोध खण्डन का उपसंहार

अभाववादियों में भी ध्वनि का अलंकारों में अन्तर्भाववादी के पक्ष का उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार ने सारांश के रूप में अपना पक्ष इस प्रकार प्रस्तुत किया है– तदयमत्र संक्षेपः–

> **व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः।**
> **समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालंकृतयः स्फुटाः।।**
> **व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रो वाच्यार्थानुगमेऽपि वा।**
> **न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते।।**
> **तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ।**
> **ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः संकरोज्झितः।।**
> **तस्मान्न ध्वनेरन्तर्भावः।**

अर्थ– जहाँ वाच्य का अनुगमन करने से व्यङ्ग्य का अप्राधान्य है वहाँ समासोक्ति आदि वाच्य अलंकार स्पष्ट है। जहाँ व्यङ्ग्य की केवल प्रतीति मात्र आभास होती है, अथवा वह वाच्य का अनुयायी (गुणीभूत) है, अथवा जहाँ व्यङ्ग्य की स्पष्टरूप में

प्रधानता नहीं है, वहाँ भी ध्वनि नहीं है। इसलिए इन समासोक्ति आदि अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता है।

इस कारण भी ध्वनि का अलंकारादि में अन्तर्भाव नही हो सकता क्योंकि अङ्गीभूत (व्यङ्ग्यप्रधान) काव्यविशेष के ध्वनि कहा है। अलंकार–गुण और वृत्तियाँ उसके अङ्ग हैं यह आगे प्रतिपादित किय जाएगा और न कि अवयव ही पृथग्भूत होकर अवयवी के रूप में प्रसिद्ध है। अपृथाभूत रूप में भी यह (अवयवरू अलंकारादि) उस ध्वनि के अङ्ग ही है, न कि अङ्गी है। जहाँ कहीं भी अङ्गी होना है वहाँ भी ध्वनि के महाविषय होने के कारण इन अलंकारादि में अन्तर्भूत नहीं होता। जैसा कि ग्रन्थकार ने लिखा है–

'इतश्च अन्तर्भावः, यतः काव्यविशेषोऽङ्गी ध्वनिरिति कथितः। तस्य पुनरङ्गानि अलंकारा गुणा वृत्तयश्चेति प्रतिपादयिष्यन्ते। न चावयव एव पृथग्भूतोऽवयवीति प्रसिद्धः। अपृथग्भावे तु तदङ्गत्वे तस्य। न तु तत्त्वमेव। यत्रापि वा तत्त्वं तत्रापि ध्वनेर्महाविषयत्वान्न तन्निष्ठत्वमेव।'' इति।

तात्पर्य यह है कि 'ध्वनि' सर्वथा अङ्गी एवं प्रधन तत्त्व है और अलंकारादि अङ्ग या अप्रधन है। इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचन से यह सम्भावना भी सर्वथा निर्मूल हो जाती है कि ध्वनि किसी वाक् विकल्पों के प्रकार लेश में गतर्थ हो सकेगा। ध्वनि को स्वल्प विष्ज्ञयक मानकर पूर्वोक्त अभाववादियों का जो यह संरम्भ था कि इसको किसी गुणालंकार के आकार–प्रकार विशेष में ही अन्तर्भाव कर दिया जाय, यह केवल उनकी दुराशामात्र है, क्योंकि वस्यमाप आकार प्रकार व भेदों की विवक्षा ही ध्वनि का विषय सीमित नहीं है। इस प्रकार विशाल इस ध्वनि के क्षेत्र को परम–सीमित अलंकार प्रकारों के 'प्रतिपादन मात्र से गतार्थ नहीं कर सकते। और भी, अशेष विशेषताओं से परिमण्डित इस ध्वनि के दिव्य कलेवर (स्वरूप) को केवल ईर्ष्या कलुषित नयनों के कटाक्षपात का विषय नहीं मानना चाहिए।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने अपनी अलौकिक प्रतिभा से अभाववादियों के सभी विकल्पों पक्षों एवं मतों का तार्किकरीति से निराकरण कर ध्वनि की निर्विवाद सत्ता स्थापित किया।

### 9.2.5 'सूरिभिः कथितः' इस कारिका भाग का व्याख्यान–

ध्वनि के अभाववादियों के सभी विकल्पों का निराकरण करने के क्रम में आचार्य आनन्दवर्धन के द्वारा ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना के व्याकरणशास्त्र के आचार्यो कर मत भी संयोजित किया गया। फलतः यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने अपने विचार से जैसे – तैसे ध्वनि का निरूपण कर दिया, अपितु उन्होंने ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत में ध्वनि–लक्षणनिरूपण कारिका में 'ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः' ऐसा कहा है। सम्प्रति इस कारिका भाग की निर्वचना में वे कहते हैं– ''सूरिभिः कथितः इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः, न तु यथाकथंचित् प्रवृत्तेतिप्रतिपाद्यते प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारितिभः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यंजकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तम्।''

अर्थ– सूरियों (विद्वानों) ने कहा है अर्थात् यह उक्ति विद्वानों के मतानुसार है, विद्वन्मतमूलक है, यो ही अप्रामाणिक स्वकलिपत रूप से प्रचलित नहीं हो गयी है यह सूचित किया है।

प्रथम (सबसे मुख्य) विद्वान् वैयाकरण हैं, क्योंकि व्याकरण सब विद्याओं का मूल है। ये (वैयाकरण विद्वान्) श्रूयमान वर्णो में 'ध्वनि' यह व्यवहार करते हैं। उसी प्रकार उनके मत का अनुसरण करने वाले, काव्यतत्त्व के द्रष्टा सुरियों ने (काव्यतत्त्वार्थदर्शी अन्यविद्वानों ने) भी 1. वाच्य 2. वाचक 3. व्यङ्ग्यार्थ 4. व्यंजनाव्यापार और 5. काव्य पद से व्यवहार्य (अर्थात् काव्य) इन पाँचों को ध्वनि कहा है। 'ध्वनतीति ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति से वाचक शब्द और वाच्यार्थ को, 'ध्वन्यते इति ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति से व्यङ्ग्यार्थ को, 'ध्वननं ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति से व्यंजनाव्यापार को और 'ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति से पूर्वोक्त ध्वनिचतुष्टययुक्त काव्य को ध्वनि कहते हैं।

वस्तुतः वैयाकरण श्रूयमाण वर्णो को ध्वनि कहते हैं इसलिए उनके अनुयायी आलंकारिकों ने ध्वनि शब्द का प्रयोग किया। आलंकारिकों ने वैयाकरणों के ध्वनिशब्द का प्रयोग इस आधार पर स्वीकार किया है कि वैयाकरण उन वर्णों को ध्वनि कहते हैं जो 'स्फोट' को अभिव्यक्त करते हैं, अर्थात् 'ध्वनतीति ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर वैयाकरण (स्फोट) के अभिव्यंजक वर्णो को ध्वनि कहते हैं। इसी प्रकार ध्वनिवादियों ने 'ध्वनतीतिः ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर वाच्यवाचक से भिन्न व्यङ्ग्य अर्थ को बोधन करने वाले शब्द, अर्थ आदि के लिए 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार मुख्यरूप से शब्द और अर्थ के लिए फिर व्यंजनाव्यापार, व्यङ्ग्यार्थ तथा व्यङ्ग्यप्रधन काव्य के लिए 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार प्रवर्तित हुआ। अत एव ध्वनिवाद स्वकल्पित नहीं अपितु पाणिनि–पतंजलि सदृश मुनियों के मत के आधार पर आश्रित है।

## 9.3 ध्वनि के दो मुख्य भेद एवं दोनों के उदाहरण

ध्वनि के अभाववाद का निराकरण, ध्वनि भी सत्ता को सिद्ध करते हुए ग्रन्थकार ध्वनि के सामान्य स्वरूप की चर्चा करते हए ध्वनि के दो प्रभेदों का उल्लेख करते हुए कहते हैं–

'अस्ति ध्वनिः। स चाविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति सामान्येन। तत्राद्यस्योदाहरणम्–

**सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।**
**शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्।।**

द्वितीयस्यापि–

**शिखरिणी क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधनमसावकरोत्तपः।**
**सुमुखि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः।।**

इसलिए ध्वनि है वह सामान्यतः अविवक्षित वाच्य (लक्षणामूल) और विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधमूल) भेद से दो प्रकार का होता है। अविवक्षितवाच्यध्वनि पुनः अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य व अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य के भेद से दो प्रकार का होता है। इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि भी संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के भेद

से दो प्रकार की होती है, पुनः इनके अनेक अवान्तर भेदोभेद किए जाते हैं। उक्त ध्वनियों के भेद, प्रभेद उदाहरण सहित द्वितीय उद्योत में विस्तार से दिखलाये जायेंगे। यहाँ केवल संक्षेप में उक्त दोनों ध्वनियों का उदाहरणपूर्वक सामान्य परिचय दिया जाता है। उनमें से प्रथम (अविवक्षितवाच्य या लक्षणामूलध्वनि) का उदहारण–

सुवर्णपुषां ............ जानाति सेवितुम्।।

अर्थ– सुवर्ण जिसका पुष्प है ऐसी पृथिवी का चयन, अर्थात् पृथिवीरूप लता के सुवर्णरूप पुष्पों का चयन तीन ही पुरुष करते हैं– शूर, विद्वान् और जो सेवा करना जानता है (सेवा में निपुण)।

भावार्थ– यहाँ न तो पृथिवी कोई लता है, न सुवर्ण पुष्प और न उसका चयन ही हो सकता है। अतः सुवर्णपुषा पृथिवीं चयन' यह वाक्य यथाश्रुत रूप में अन्वित नहीं हो सकता, इसलिए पुरुषार्थबोध होने से लक्षणा द्वारा विपुल धन और उसके उपार्जन से सुलभ समृद्धिसम्भारभाजनता को व्यक्त करते है। लक्षणा का प्रयोजन शूर, कृतविद्य और सेवकों का प्राशस्त्य, स्पद से वाच्य न होकर सौन्दर्यविषयरूप से ध्वनि होता है। लक्षणामूल होने से इसको अविवक्षितवाच्यध्वनि कहते हैं।

वस्तुतः यहाँ वाच्यार्थ सर्वथा असंगत है क्योंकि पृथिवी सुवर्णो को पुष्पित करती है, तथा शूरवीर आदि उसका चयन किया जाना ये दोनों अर्थ अनुपन्न है, वाच्यार्थ का इस प्रकार अविवक्षित या असंगत होने से तत्पश्चात् लक्षणा द्वारा सादृश्यसम्बन्ध के बल से शूर विद्वान् व चतुरसेवक प्रभूत धन सम्पत्ति प्राप्त कर लेते हैं, यह बात लक्षित होती है, क्योंकि पृथिवी कोई पुष्प है नहीं जिसका चयन किया जा सके। अतः लक्षणाशक्ति द्वारा सुलभ–समृद्धि लक्षित होती है। उस लक्षणा का प्रयोजन शूर, कृतविद्य एवं सेवकों का जो प्राशस्त्य है वह शब्द के वाच्य न होकर व्यंजनाद्वारा ध्वनित होता है। यहाँ शब्छ प्रधान रूप से व्यंजक है औश्र अर्थ शब्द के सहकारी होने के कारण व्यंजक है।

इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ निष्पन्न होता है– कि उक्त तीन तरह के पुरुष ही इस पृथिवी में प्रशस्त या प्रशंसा के भाजन है, जो अपनी शूरता विद्वत्ता व सेवानिपुणता से सुलभ सम्पत्ति वाले हैं। अतः यहाँ लक्षणामूल में होने के कारण, लक्षणामूल ध्वनि है।

द्वितीय भेद विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के उदाहरण के रूप में ग्रन्थकार ने –

शिखरिणी क्व .......... शुकशावकः।। इस पद्य को उद्धृत किया है।

यहाँ वाच्य विवक्षित तो हो परन्तु वह अन्यपरवाच्य अर्थात् अन्यनिष्ठ हो वहाँ विवक्षितान्यपरवाच्य या अभिधमूलध्वनि होता है। जैसे उक्त पद्य में प्रदर्शित किया गया है।

पद्य का अर्थ– हे तरुणि ! यह तोते का वच्च किस पर्वत पर कितने दिनों तक कौन सा तप किया है। जो तेरे अधर के समान लालवर्ण वाले बिम्बफल को काट रहा है।

उक्त पद्य में कोई खुशामदी नायक किसी प्रेयसी के सामने तोते के बच्चे को निर्देश कर कह रहा है कि तुम्हारे अध्र के समान लाल वर्ण्ा के बिम्बफल के आस्वादन के लिए न मालूम शुकशावक ने कौन से सिद्धिदायक श्रीपर्वतों पर न जाने कितने वर्षो तक, कौन सा तप किया होगा, जिसके फलस्वरूप आज यह तुम्हारे अधर के समान पाटलवर्ण के बिम्बफल के आस्वादन का सौभाग्य प्राप्त कर रहा है।

अर्थात् जब तुम्हारे अधर के तुल्य बिम्बफल के आस्वादन के लिए इस प्रकार की असामान्य तपस्या करनी पड़ती है तो फिर साक्षात् तुम्हारे अधरपान के लिए न मालूम कौन सा तप करना पड़ेगा। तुम्हारा अधर प्रकृष्ट पुण्यों द्वारा लभ्य है यह पार्यन्तिक व्यङ्ग्य है। यहाँ अनुरागी का अपने प्रच्छन्न अभिप्राय के ख्यापन के वैदग्ध्य से चाटुरचना द्वारा विभाव (तरुणी रूप आलम्बन विभाव) का उद्दीपन व्यङ्ग्य है। अर्थात् नायिका के प्रति अभिलाष व्यङ्ग्य हो रहा है।

**मूलपाठः**

**यथा स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रकाशयन्नपि पदार्थो**
**व्यापारनिष्पत्तौ न भाव्यते विभक्ततया ।।**

**तद्वत्सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम् ।**
**बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते ।।12।।**

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्यार्थस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्रकृत

उपयोजयन्नाह –––

**यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।**
**व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।।13।।**

यत्रार्थो वाच्यविशेषः वाचकविशेषः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः ,

स काव्यविशेषो ध्वनिरिति ।

अनेन वाच्यवाचकचारुत्वहेतुभ्य उपमादिभ्योऽनुप्रासादिभ्यश्च

विभक्त एव ध्वनेर्विषय इति दर्शितम् । यदप्युक्तम् –––

'प्रसिद्धप्रस्थानातिक्रमिणो मार्गस्य काव्यहानेर्ध्वनिर्नास्ति'इति ,

तदप्ययुक्तम् । यतो लक्षणकृतामेव स केवलं न प्रसिद्धः, लक्ष्ये

तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदयहृदयाह्लादकारि काव्यतत्त्वम् ।

ततोऽन्यच्चित्रमेवेत्यग्रे दर्शयिष्यामः ।

यदप्युक्तम् –––'कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तालंकारादि–

प्रकारेष्वन्तर्भावः'इति , तदप्यसमीचीनम् य वाच्यवाचकमात्रा–

श्रयिणि प्रस्थाने व्यङ्ग्यव्यंजकसमाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वनेः

कथमन्तर्भावः , वाच्यवाचकचारुत्वहेतवो हि तस्यांगभूताः ,

स त्वंगिरूप एवेति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् ।

परिकरश्लोकाश्चात्र –––

**व्यङ्ग्यव्यंजकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः ।**
**वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्तःपातिता कुतः ।।**

ननु यत्र प्रतीयमानस्यार्थस्य वैशद्येनाप्रतीतिः स नाम मा भूद् ध्वनेर्विषयः । यत्र तु प्रतीतिरस्ति , यथा ––– समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्तविशेषोक्तिपर्यायोक्तापह्नुतिदीपकसंकरा–लंकारादौ , तत्र ध्वनेरन्तर्भावो भविष्यतीत्यादि निराकर्तुमभिहितम् –––'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ'इति ।

अर्थो गुणीकृतात्मा , गुणीकृताभिधेयः शब्दो वा यत्रार्थान्तर–मभिव्यनक्ति स ध्वनिरिति । तेषु कथं तस्यान्तर्भावः । व्यङ्ग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः । न चौतत्समासोक्त्यादिष्वस्ति ।

समासोक्तौ तावत् –––

**उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।**
**यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद्गलितं न लक्षितम्।।**

इत्यादौ व्यङ्ग्येनानुगतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते समारोपित–नायिकानायकव्यवहारयोर्निशाशशिनोरेव वाक्यार्थत्वात् ।

आक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाक्षेपिणोऽपि वाच्यस्यैव चारुत्वं प्राधान्येन वाक्यार्थ आक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव ज्ञायते । तथाहि –– तत्र शब्दोपारूढो विशेषाभिधानेच्छया प्रतिषेधरूपो य आक्षेपः स एव व्यङ्ग्यविशेष–माक्षिपन्मुख्यं काव्यशरीरम् ।

चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा ।

यथा –––

**अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः ।**
**अहो दैवगतिः कीदृक्तथापि न समागमः।।**

अत्र सत्यामपि व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यस्यैव चारुत्वमुत्कर्षवदिति तस्यैव प्राधान्यविवक्षा ।

यथा च दीपकापह्नुत्यादौ व्यङ्ग्यत्वेनोपमायाः प्रतीतावपि प्राधान्येना–विवक्षितत्वान्न तया व्यपदेशस्तद्वदत्रापि द्रष्टव्यम् ।

अनुक्तनिमित्तायामपि विशेषोक्तौ –––

**आहूतोऽपि सहायैरोमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि ।**
**गन्तुमना अपि पथिकः सङ्कोचं नैव शिथिलयति ।।**

इत्यादौ व्यङ्ग्यस्य प्रकरणसामर्थ्यात्प्रतीतिमात्रं न तु तत्प्रतीतिनिमित्ता काचिच्चारुत्वनिष्पत्तिरिति न प्राधान्यम् । पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वं तद्भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भावः । न तु ध्वनेस्तत्रान्त–र्भावः । तस्य महाविषयत्वेनाङ्गित्वेन च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । न पुनः पर्यायो भामहोदाहृतसदृशे व्यङ्ग्यस्यैव प्राधान्यम् । वाच्यस्य तत्रोपसर्जनाभावेनाविवक्षितत्वात् ।

अपह्नुतिदीपकयोः पुनर्वाच्यस्य प्राधान्यं व्यङ्ग्यस्य चानुयायित्वं प्रसिद्धमेव ।

संकरालंकारेऽपि यदलंकारोऽलंकारान्तरच्छायामनुगृह्णाति , तदा व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न ध्वनिविषयत्वम् ।

अलंकारद्वयसम्भावनायां तु वाच्यव्यङ्ग्ययोः समं प्राधान्यम् ।

अथ वाच्योपसर्जनीभावेन व्यङ्ग्यस्य तत्रावस्थानं तदा सोऽपि ध्वनिविषयोऽस्तु , न तु स एव ध्वनिरिति वक्तुं शक्यम् । पर्यायोक्त–निर्दिष्टन्यायात् ।

अपि च संकरालंकारेऽपि च क्वचित् संकरोक्तिरेव ध्वनिसम्भावनां निराकरोति ।

अप्रस्तुतप्रशंसायामपि यदा सामान्यविशेषभावान्निमित्तनिमित्ति–भावाद्वा अभिधीयमानस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभि–सम्बन्धस्तदाभिधीयमानप्रतीयमानयोः सममेव प्राधान्यम् ।

यदा तावत्सामान्यस्याप्रस्तुतस्याभिधीयमानस्य प्राकरणिकेन विशेषेण प्रतीयमानेन सम्बन्धस्तदा विशेषप्रतीतौ सत्यामपि प्राधान्येन तत्सामान्येनाविनाभावात्सामान्यस्यापि प्राधान्यम् ।

यदापि विशेषस्य सामान्यनिष्ठत्वं तदापि सामान्यस्य प्राधान्ये सामान्ये सर्वविशेषाणामन्तर्भावाद्विशेषस्यापि प्राधान्यम् ।

निमित्तनिमित्तिभावे चायमेव न्यायः ।

यदा तु सारूप्यमात्रवशेनाप्रस्तुतप्रशंसायामप्रकृतप्रकृतयोः सम्बन्धस्तदाप्यप्रस्तुतस्य सरूपस्याभिधीयमानस्य प्राधान्येना–विवक्षायां ध्वनावेवान्तःपातः । इतरथा त्वलंकारान्तरमेव ।

तदयमत्र सङ्क्षेपः –––

**व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः ।**
**समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटाः।।**

**व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा ।**
**न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते ।।**

**तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ ।**
**ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः संकरोज्झितः ।।**

तस्मान्न ध्वनेरन्यत्रान्तर्भावः । इतश्च नान्तर्भावः य यतः काव्यविशेषोऽंगी ध्वनिरिति कथितः । तस्य पुनरंगानि ––– अलंकारा गुणा वृत्तयश्चेति प्रतिपादयिष्यन्ते । न चावयव एव पृथग्भूतोऽवयवीति प्रसिद्धः । अपृथग्भावे तु तदंगत्वं तस्य । न तु तत्त्वमेव । यत्रापि वा तत्त्वं तत्रापि ध्वनेर्महाविषय–त्वान्न तन्निष्ठत्वमेव ।'सूरिभिः कथित'इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः , न तु यथाकथञ्चित्प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते । प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः , व्याकरणमूलत्वात्सर्वविद्यानाम् । ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति ।

तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभि–र्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यंजक–त्वसाम्याद्ध्वनिरित्युक्तः । न चौवंविधस्य ध्वनेर्वक्ष्यमाणप्रभेद–तद्भेदसंकलनया महाविषयस्य यत्प्रकाशनं तदप्रसिद्धालंकार–विशेषमात्रप्रतिपादनेन तुल्यमिति तद्भावितचेतसां युक्त एव संरम्भः । न च तेषु कथंचिदीर्ष्यया कलुषितशेमुषीकत्व–माविष्करणीयम् । तदेवं ध्वनेस्तावदभाववादिनः प्रत्युक्ताः ।

अस्ति ध्वनिः । स चासावविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन ।

तत्राद्यस्योदाहरणम् –––

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ।।

द्वितीयस्यापि ---

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः ।

तरुणि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः।।

## 9.4 सारांश

इस प्रकार प्रस्तुत इकाई में आपने ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत की कारिका 12 से 13 तक का वृत्ति सहित अध्ययन किया। जिसमें आपने प्रमुख रूप से काव्यों में व्यङ्ग्यार्थ की ही प्रधानता होती है, इसका सविशेष अध्ययन किया। साथ ही व्यङ्ग्यार्थ के प्राधान्य की अक्षुण्णता ध्वनि का लक्षण एवं स्वरूप का विस्तार से अध्ययन किया। अलंकारों में ध्वनि के अन्तर्भाव का खण्डन विशेष रूप से समासोक्ति–पर्यायोक्त–दीपक–अपह्नुति–अप्रस्तुतप्रशंसा–आक्षेप–विशेषोक्ति–संकर प्रभृति अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। अभाववादियों के तीनों विकल्पों का खण्डन पूर्वक समाधान अलंकारों में ध्वनि के अन्तर्भाव की अशंका एवं उसका निराकरण, ध्वनि का महाविषय अङ्गी एवं प्रधान विषय के रूप में निरूपण गुण अलंकार, वृत्ति आदि विषयों का अङ्गरूप में प्रतिपादन, ध्वनि से ही काव्य के चारुत्वोत्कर्ष, सूरिभि कथितः इस ध्वनिलक्षण कारिका भाग की विशेष व्याख्या, वैयाकरणों के अनुसार ध्वनि का स्वरूप निरूपण, ध्वनि काव्य के सामान्य दो भेद एवं उसके उदाहरण, ध्वनि की सत्ता की निर्विवाद स्थापना प्रभृति विषयों का सविशेष अध्ययन किया।

उपर्युक्त इकाई के अध्ययन से आप आनन्दवर्धन के मतानुसार ध्वनि के अभाववादियों के तीनों विकल्पों का निराकरण करते हुए ध्वनि के लक्षण एवं स्वरूप को तथा अलंकरों में ध्सवनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता है, इन तथ्यों को ज्ञान आपको हुआ होगा, जिससे ध्वन्यालोक ग्रन्थ में आपकी गति और प्रशस्त होगी।

## 9.5 शब्दावली

**संगृहीत** – ग्रहण किया गया है

**अक्षुण्णता** – पूर्णरूप से, अखंडित, सम्पूर्णता, जिसकी सत्ता बनी रे।

**प्रतीति** – ज्ञान, बोध

**समर्पण** – न्योछावर

**तत्त्वार्थदर्शिनी** – तत्त्व को समझनेवाली, रहस्य को जाननेवाली

**आकांक्षा** – जिज्ञासा

**अवभासित** – प्रकटित

**अभिलक्षित** – प्रतीत होना, दिखाई देना

**अविवक्षितवाच्य** – जहाँ वाच्य विवक्षित न हो

**समष्टि** – समुदाय रूप में

| | | |
|---|---|---|
| **समाश्रयण** | – | आश्रय ग्रहण करना |
| **उपसर्जन** | – | गौण कर लेना |
| **स्मारोपित** | – | आरोपित किया हुआ |
| **वाच्यानुगामित्व** | – | वाच्य का अनुगामी, वाच्य का अनुसरण कर्ता |
| **पृथग्भूत** | – | अलग होकर |
| **निर्मूल** | – | पूर्णरूप से समाप्त होना |
| **विवक्षा** | – | वक्ता की इच्छा |
| **परिमण्डित** | | संयुक्त, व्याप्त |
| **काव्यतत्त्वार्थदर्शी** | | काव्यमर्मज्ञ |
| **स्वकल्पित** | | खुद की कल्पना |

## 9.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

**ध्वन्यालोकः** आनन्दवर्धनाचार्य विरचित, व्याख्याकार– आचार्य जगन्नाथपाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

**ध्वन्यालोक** व्याख्याकार– आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी

**ध्वन्यालोक** लीला संस्कृत हिन्दी व्याख्या सहित, आचार्य लोकमणि दहाल, भारतीयविद्याप्रकाशन, दिल्ली

**संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास** पी.वी. काणे, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली

**ध्वन्यालोक** व्याख्याकार– के.कृष्णमूर्ति, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

**ध्वन्यालोक** व्याख्याकार– डॉ. रामसागरत्रिपाठी, मोतीलालबनारसीदास, दिल्ली

**काव्यशास्त्रविमर्श** डॉ. कृष्णकुमार, मयङ्क प्रकाशन, कनखल, हरिद्वार

**ध्वन्यालोक** व्याख्याकार– डॉ. बालप्रियाटीकासमन्वित, काशी संस्कृत सीरिज, वाराणसी

**ध्वनिसिद्धान्त** डॉ. राममूर्तिशर्मा, अजन्ता पब्लिकेशन्स, जवाहरनगर, नई दिल्ली

**ध्वन्यालोकविमर्श** प्रो. माणिकगोविन्द चतुर्वेदी, अक्षरप्रकाशन, विश्वासनगर, दिल्ली

**आनन्दवर्धन** लेखक– प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी, मध्यप्रदेश, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

## 9.7 बोध प्रश्न

1. ध्वन्यालोक के आधार पर ध्वनि के लक्षण एवं स्वरूप का निरूपण करें।
2. व्यङ्ग्यार्थ के प्राधान्य का प्रतिपादन करें।
3. अभाववाद का खण्डन प्रस्तुत करें।

(ध्वन्यालोकः) प्रथम उद्योत, कारिका 11 से 14 तक

4. अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता है, इस तथ्य को सोदाहरण निरूपित करें।

5. ध्वन्यभावादियों का समाधान प्रस्तुत करते हुए ध्वनि का अङ्गित्व प्रतिपादित करें।

6. 'सूरिभिः कथितः' इस कारिका भाग की व्याख्या करें।

7. गुण, अलंकार, वृत्ति प्रभृति तत्त्वों का अङ्गत्व ध्वन्यालोक के आधार पर स्थापित करें।

8. ध्वनि के मुख्य दो भेदों का सोदाहरण वर्णन करें।

# इकाई 10 (ध्वन्यालोकः) प्रथम उद्योत, कारिका 15 से 19 तक

**इकाई की रूपरेखा–**



## 10.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप–

- ध्वनि को भक्ति अर्थात् लक्षणा में अन्तर्भाव करने का जो प्रयास भाक्तवादी विद्वानों का था उसे किस प्रकार ध्वनिकार ने खण्डन किया इस तथ्य को जान पायेंगे।
- लक्ष्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ के पार्थक्य को बताने में समर्थ होंगे।
- भाक्तवाद के सभी पक्षों का खण्डन करने में समर्थ होंगे।
- भक्ति ध्वनि का लक्षण भी नहीं हो सकती इस तथ्य को जान पायेंगे।
- लक्षणा और गौणीवृत्ति के पार्थक्य से परिचित हो सकेंगे।
- भक्ति के ध्वनि का लक्षण मानने पर अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष की संभावना को समझ पायेंगे।
- ध्वनि विरोधी तृतीय पक्ष अनिर्वचनीयतावाद का खण्डन करने में समर्थ होंगे।
- रुढिलक्षणा के स्थल में भक्ति के होते हुए भी व्यङ्ग्यप्रयोजन के अभाव को प्रदर्शित कर पायेंगे।
- लक्षणाव्यापार और व्यंजनाव्यापार का भिन्न विषयकत्व को बताने में सक्षम होंगे।

## 10.1 प्रस्तावना

ध्वनि सिद्धान्त के उद्भावक आचार्य आनन्दवर्धन ने बड़े ही तार्किक ढंग से ध्वनि को काव्य का सर्वस्वभूत, सर्वप्रधान तत्त्व के रूप में स्थापित किया। उन्होंने स्पष्ट रूप से 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' उद्‌घोष किया, और अपनी विलक्षण मेधा एवं अद्वितीय पाण्डित्य इसे सप्रमाण सिद्ध भी किया। ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना के प्रसंग में उन्होंने तीन प्रकार के ध्वनिविरोधीमतों का विस्तारपूर्वक उल्लेख भी किया जिनमें अभाववाद, भाक्तवाद एवं अनिर्वचनीयतावाद प्रमुख है।

उपर्युक्त तीनों ही मतों के कई विकल्पों की वर्णन भी ध्वन्यालोकग्रन्थ में ग्रन्थकार ने विशेष रूप से किया है। इससे पूर्व के पाठ में आपने अभाववाद के सभी विकल्पों का तार्किकरीति से किस प्रकार ग्रन्थकार ने खण्डन किया, और ध्वनि के अभाव एवं अलङ्कारों में ध्वनि के अन्तर्भाव को निरस्त कर ध्वनि की निर्भ्रान्त स्थापना की, इस तथ्य का अध्ययन किया। इस इकाई में आप विशेष रूप से भाक्तवाद एवं अनिर्वचनीयतावाद का खण्डन किस प्रकार किया गया है इस तथ्य का अध्ययन करेंगे। साथ ही, लक्षणाव्यापार एवं ध्वननव्यापार का भिन्नविषयकत्व लक्ष्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ के पार्थक्य, ध्वनि का भक्ति में अन्तर्भाव नहीं हो सकता, भक्ति ध्वनि का लक्षण भी नहीं सकती, लक्षणा और गौणीवृत्ति का पार्थक्य, भक्ति को ध्वनि का लक्षणमानने पर अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति दोष की स्थिति, इत्यादि विषयों का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे। इस अध्ययन से ध्वनिसिद्धान्तविषयक आपके ज्ञान में वृद्धि होगी तथा आप ध्वनि विरोधी मतों का सहजता से प्रामाणिक निराकरण करने में समर्थ होंगे।

## 10.2 भाक्तवाद एवं अनिर्वचनीयतावाद का निराकरण

ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत की प्रथम कारिका में जो कहा था 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' और 'केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं' अर्थात् कुछ भक्तिवादी (लक्षणावादी) आचार्यों ने ध्वनि को भक्ति–लक्षणा में ही गतार्थमानते थे उन्हीं के समाधान के लिए ध्वनिवादी पूछते हैं कि, क्या आप भक्ति और ध्वनि को पर्यायवत् एक समझते हो, या भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानते हो, अथवा भक्ति को ध्वनि का उपलक्षण समझते हो।

कहने का तात्पर्य यह है कि 'घटः कलशः' की तरह भक्ति को ध्वनि का ताद्रूप्य अभेद मानते हो, या पृथिवी के पृथिवीत्व या गन्धवत्व जिस प्रकार व्यावर्तक ध्र्म– लक्षण मानते हो, अथवा देवदत्त के घर के उपर बैठा हुआ काक (कौवा) जैसे उक्त घर का उपलक्षण – सूचक होता है उसी प्रकार क्या भक्ति भी ध्वनि का उपलक्षण है।

उपर्युक्त सभी पक्षों का समाधान तार्किक रीति को ध्वनिकार ने किया है। साथ ही कुछ अलक्षणीयतावादी आचार्यों ने ध्वनि का लक्षण नहीं किया जा सकता क्योंकि ध्सवनि वाणी का विषय ही नहीं है ऐसा कहा था। उनका भी समाधान ग्रन्थकार के द्वारा प्रस्तुत किया है। भाक्तवाद के सभी पक्षों का निराकरण क्रमशः किया जा रहा है–

### 10.2.1 भाक्तवाद के प्रथम विकल्प अभेदवाद (भक्ति और ध्वनि के एकत्व) का निराकरण

'भाक्तमाहुस्तमन्ये' इस पक्ष के प्रथम विकल्प अभेदवाद का खण्डन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं–

**यदप्युक्तं भक्तिर्ध्वनिरिति, प्रतिसमाधीयते–**
**भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः।**

प्रस्तुत कारिकांश की वृत्तिभाग में इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं–

'अयमुक्तप्रकारो ध्वनिर्भक्त्या नैकत्वं बिभर्ति, भिन्नरूपत्वात्। वाच्यव्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाभ्यां .....................।

अर्थ– जो यह कहा था कि भक्ति ध्वनि है उसका समाधान करते हैं– यह उक्त (शब्द, अर्थ, व्यंजना–व्यापार, व्यङ्ग्यार्थ और काव्य इन पाँचों भेद वाला) ध्वनि, (भक्ति या लक्षणा से) भिन्नरूप होने के कारण भक्ति (लक्षणा) के साथ अभेद एकत्व को प्राप्त नहीं हो सकता है।

अर्थात् यह उक्त प्रकार का पंचविध ध्वनि लक्षणा से भिन्नरूप होने के कारण 'भक्ति' (लक्षणा) से अभिन्न नहीं हो सकता। वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ को व्यङ्ग्य का प्राधान्य होते हुए जहाँ वाच्यवाचक द्वारा तात्पर्यरूप से प्रकाशित किया जाता है उसको ध्वनि कहते हैं। और भक्ति तो केवल उपचार (सादृश्य संबन्ध) का नाम है, अतः ध्वनि 'भक्ति'रूप नहीं हो सकता है, उससे भिन्न है। वस्तुतः भक्ति और ध्वनि किसी प्रकार एक दूसरे के पर्याय नहीं हो सकते हैं, क्योंकि दोनों में रूप भेद है, अर्थात् ध्वनि का स्वरूप भिन्न है और भक्ति का स्वरूप भिन्न। ग्रन्थकार ने भक्ति को उपचारमात्र कहा है। उपचार अर्थात् अतिशयित व्यवहार। जिस शब्द का जिस अर्थ में संकेत व्यवहार प्रसिद्ध है, उसे छोड़कर, उससे सम्बद्ध अर्थ में शब्द का व्यवहार ही अतिशयित व्यवहार कहा जाता है।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने भाक्तवाद के प्रथम विकल्प अभेदवाद का निराकरण कर यह सिद्ध कर दिया है कि भक्ति ध्वनि का पर्याय नहीं हो सकता है।

### 10.2.2 भाक्तवाद के द्वितीय विकल्प लक्षणवाद का खण्डन

भाक्तवाद के द्वितीय विकल्प लक्षणवाद का निराकरण करते हुए ग्रन्थकार कहते है–

**मा चैतत् स्याद् भक्तिर्लक्षणं ध्वनेरित्याह–**
**'अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया।।**

कारिकांश के वृत्तिभाग में तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं– 'नैव भक्त्या ध्वनिर्लक्ष्यते। कथम्? अतिव्याप्तेरव्याप्तेश्च। तत्रातिव्याप्तिर्ध्वनिव्यतिरिक्तेऽपि विषये भक्तेः सम्भवात्। यत्रा हि व्यङ्ग्यकृतं महत्सौष्ठवं नास्ति तत्राप्युपचरितशब्दवृत्त्या प्रसिद्ध्यनुरोधप्रवर्तितव्यवहाराः कवयो दृश्यन्ते।''

अर्थ– यह भक्ति ध्वनि का लक्षण भी नहीं हो सकती है, क्योंकि 'अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष के कारण 'ध्वनि' भक्ति से लक्षित भी नहीं हो सकता है अर्थात् भक्ति ध्वनि का लक्षण भी नहीं बन सकता है।

वस्तुतः 'भक्ति' ध्वनि का लक्षण भी नहीं हो सकती है। क्यों? अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष के कारण। उसमें अतिव्याप्ति इसलिए है कि ध्वनि से भिन्न विषय में भी 'भक्ति' (लक्षण) हो सकती है। जहाँ व्यङ्ग्य के कारण विशेष सौन्दर्य नहीं होता वहाँ भी कवि, प्रसिद्धिवश, उपचार या गौणी शब्दवृत्ति से व्यवहार करते हुए देखे जाते हैं।

यह एक सामान्य नियम है कि किसी भी पदार्थ के लक्षण को अतिव्याप्ति अव्याप्ति व असम्भव इन तीनों दोषों से रहित होना चाहिए।

**अतिव्याप्ति**–अतिव्याप्ति का लक्षण शास्त्रों में इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है– ''तत्रा लक्ष्यवृत्तित्वे सति लक्ष्येतरमत्त्विमतिव्याप्तिः'' अर्थात् जो लक्षण लक्ष्य वृत्ति होते हुए, तदितर में भी व्याप्त हो, उसे अतिव्याप्ति कहते है, जैसे यदि– ''शृङ्गित्वं गोत्वम्'' अर्थात् जो सीङ्ग वाली है वही गाय है, यदि गाय का ऐसा लक्षण किया तो शृङ्ग तो महिषादि अन्य जीवों में भी है, अतः इस लक्षण के लक्ष्य– गो से इतर महिषादि में भी व्याप्त होने से अतिव्याप्ति नामक लक्षण दोष होगा।

**अव्याप्ति**–'लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वमव्याप्तिः' यह अव्याप्ति का लक्षण है, अर्थात् जो लक्षण लक्ष्य के एक देश में संगत होकर भी तदितर देश में असंगत होगा। जैसे– 'कपिलत्वं गोत्वम्' अर्थात् जो कपिलवर्ण की है वह गाय है ऐसा यदि गाय का लक्षण किया जाय तो लक्ष्य–गाय के एक देश सफेद गाय में लक्षण व्याप्त नहीं होगा, फलतः लक्षण में अव्याप्ति नामक दोष आ जायेगा।

**असम्भवदोष**–इसी प्रकार असम्भव दोष वहाँ होता है जो वस्तु लक्ष्यमात्रा में न मिले, 'लक्ष्यमात्रावृत्तित्वमसम्भवः'। अर्थात् पदार्थ का ऐसा लक्षण बना दे जो मिलना ही असम्भव हो, तो वह असम्भव दोष कहा जाता है।

प्रस्तुत प्रसंग में भी 'अतिव्याप्ति' और 'अव्याप्ति' के होने से 'भक्ति' ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती है। क्योंकि ध्वनि से भी भिन्न स्थल में भक्ति सम्भव है, यह अतिव्याप्ति हुई। अर्थात् जहाँ व्यंजनाव्यापार जन्य चमत्कार नहीं है वहाँ भी ऐसे भक्ति– गुणवृत्ति स्थल में भी कविलोग व्यवहार करते देखे जाते हैं।

इस सन्दर्भ में ग्रन्थकार द्वारा कतिपय उदाहरण उद्धृत किये गये हैं जिसके द्वारा इस तथ्य को और स्पष्टता से समझा जा सकता है। जैसे–

> **परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयत–**
> **स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम्।**
> **इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः**
> **कृशाङ्गयाः सन्तापं वदति विसिनीपत्रशयनम्।।**

अर्थ– कमलिनीपत्रों का यह शयन (सागरिका के) पीनस्तन और जघन के संसर्ग से दोनों ओर मलिन हो गया है और शरीर के बीच के कमर–भाग का पत्रों से स्पर्श न होने के कारण शय्या का वह भाग हरा है। शिथिल भुजाओं के इधर–उधर फेंकने के कारण इसकी रचना अस्त–व्यस्त हो गयी है। इस प्रकार यह कमलिनी पत्रा की शय्या कृशाङ्गी (सोगरिका) के सन्ताप को कह रही है।

यह पद्य हर्षवर्धन विरचित 'रत्नावली' नाटिका में सागरिका के मदनशय्या को छोड़कर लताकुंज से चले जाने के बाद राजा और विदूषक के उस कुंज में प्रवेश करने पर उस मदनशय्या की अवस्था को देखकर विदूषक के प्रति राजा की उक्ति है।

यहाँ पद्य में 'वदति' का अर्थ प्रकट करना है, यह बात स्पष्ट है। इस अगूढ बात को यदि 'वदति' पद से लक्षणाशक्ति से कहने के बजाय 'प्रकटयति' पद से अभिधा द्वारा प्रकाशित किया जाता तो भी कोई अचारुत्व नहीं होता। और अब लक्षणा द्वारा कहने से उसमें कोई अधिक चारुत्व नहीं हो गया। इस प्रकार यहाँ व्यङ्ग्यप्राधान्यरूप ध्वनि

के न होने पर भी 'वदति' पद में लक्षणा रूप भक्ति का आश्रय लिया गया है। अतएव भक्ति के ध्वनि से भिन्न स्थान पर अतिव्याप्त होने से वह ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती है।

इसी प्रकार अन्य उदाहरण के पदों में भी ध्वनि का अवसर नहीं होने से वहाँ भी अतिव्याप्ति है। क्योंकि सभी उदाहरणों में ध्वनि का हो सर्वथा अभाव है परन्तु लक्षणा से लक्ष्यार्थ बोध्ति होने का प्रसंग है अतः लक्षणा (भक्ति) ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती है।

एक और विशिष्ट उदाहरण के द्वारा अतिव्याप्ति को समझा जा सकता है। जैसे–

**परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो**
**मदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः।**
**न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपतितः**
**किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुवः।।**

अर्थ– जो दूसरों के लिए पीड़ा का अनुभव करता है, अर्थात् जो ईख रस निकाले जाने के लिए यन्त्र पर या दांतों के पीड़ा–कष्ट का अनुभव करता है, टूट जाने पर भी मधुर (मीठा) बना रहता है, सबों को जिसका विकार (रस अथवा दोष) भी अच्छा लगता है, (विकार से अभिप्राय– गुड़, चीनी इत्यादि से है।) वह ईख यदि ऊसर जमीन में पड़कर नहीं बढा तो क्या यह ईख का दोष (अपराध) है, गुणहीन मदभूमि का नहीं?

यहाँ इक्षुपक्ष में 'अनुभवति' पद का मुख्यार्थ असंगत होने से लक्षणा द्वारा पीड्यमानत्व का बोध करता है। परन्तु व्यङ्ग्य का प्राधान्य न होने से ध्वनि नहीं है, और ध्वनि के अभाव में भी भक्ति है अतः अतिव्याप्त होने से भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती। और इस प्रकार का शब्द कभी ध्वनि का विषय नहीं होता। क्योंकि–

## 10.2.3 कारिका सं. 15 की व्याख्या

यतः–**''उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन्**

.........................

अर्थ– उक्त्यन्तर से जो चारुत्व प्रकाशित नहीं किया जा सकता उसको प्रकाशित करनेवाला व्यंजनाव्यापारयुक्त शब्द ही ध्वनि कहलाने का अधिकारी हो सकता है।

और यहाँ उदाहृत विषय में शब्द दूसरी शक्ति से अशक्य चारुत्व की व्यंजना का हेतु नहीं है। वस्तुतः ग्रन्थकार के कहने का अभिप्राय है कि जिस चारुत्व को अन्य सामान्य शब्द प्रकाशित नहीं कर सकते हैं, ऐसे अतिशय चारुत्व को प्रकाशित करने वाला कोई विरला ही शब्द ध्वनि व्यवहार का विषय होता है।

## 10.2.4 कारिका सं. 16 की व्याख्या

इसी प्रकार लक्षणा सप्रयोजन स्थल में ध्वनि का निराकरण कर अब लक्षणा के रूढिस्थल से भी ध्वनि का निराकरण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि–

**रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि।**
**लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः।।**

अर्थ– और भी– जो 'लावण्य' आदि शब्द अपने विषय (लवणयुक्त्व) से भिन्न सौन्दर्यादि अर्थ में रूढ (प्रसिद्ध) है, वे भी प्रयुक्त होने पर ध्वनि के विषय नहीं होते हैं।

अर्थात् लक्षणा में रूढि या प्रयोजन में से एक का होना आवश्यक है। इस दृष्टि से लक्षणा के दो भेद हो जाते हैं। इन दोनों भेदों में से प्रथम रूढिवाले भेद में भक्ति (लक्षणा) तो रहती है परन्तु प्रयोजनरूप व्यङ्ग्य या ध्वनि का अभाव होता है। दूसरे प्रयोजनवाले भेद में प्रयोजन व्यङ्ग्य तो होता है परन्तु वह लक्षणा से नहीं व्यंजना से बोधित होता है। इसलिए भक्ति ध्वनि का लक्षणा नहीं हो सकती। इस तथ्य को कारिका के वृत्तिभाग द्वारा भी स्पष्ट किया गया है। यथा– 'तेषु चोपचरितशब्दवृत्तिरस्तीति तथाविधे च विषये क्वचित् सम्भवन्नपि व्यनिव्यवहारः प्रकारान्तरेण प्रवर्तते, न तथा विधशब्दमुखेन।

अर्थात् उन (लावण्य आदि शब्दों) में उपचरित गौणी शब्दवृत्ति तो है परन्तु ध्वनि नहीं है। इस प्रकार के उदाहरणों में यदि कहीं ध्वनिव्यवहार सम्भव भी हो तो वह उस प्रकार के (लावण्य, आनुलाम्य, प्रातिकूल्य आदि) शब्दद्वारा नहीं अपितु प्रकारान्तर से होता है। अतः निरूढ लक्षणा में प्रतीयमानार्थ (ध्वनि) का लेशमात्र भी मान नहीं होता है। इसलिए भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती।

### 10.2.5 कारिका सं. 17 की व्याख्या

अपि च–

> **मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्याऽर्थदर्शनम्।**
> **यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः।।**

अर्थ– और भी– जिस (शैत्य पावनत्वादि) फल को लक्ष्य में रखकर (गङ्गायां घोषः इत्यादि वाक्यों में) मुख्य (अभिधा) वृत्ति को छोड़कर गुणवृत्ति (लक्षणा) द्वारा अर्थबोध कराया जाता है। उस फल का बोधन करने में शब्द बाधितार्थ (स्खलद्गति) नहीं है।

कारिका की वृत्ति में कहते हैं– तत्र हि चारुत्वातिशयविशिष्टार्थ प्रकाशनलक्षणो प्रयोजने कर्तव्ये यदि शब्दस्यामुख्यता तदा तस्य प्रयोगे दुष्टतैव स्यात्। न चैवम्,

अर्थात्– उस चारुत्वातिशयविशिष्ट अर्थ के प्रकाशनरूप प्रयोजन के सम्पादन में यदि शब्द गौण शब्द का मुख्य अर्थबोधक व्यापार अभिधा है। साधारणतः अभिधा द्वारा संकेत्ति मुख्यार्थ में ही शब्दों का प्रयोग करते हैं। परन्तु कहीं–कहीं मुख्यार्थ को छोड़कर उससे सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ में भी शब्दों का प्रयोग करते है। ऐसे प्रयोग के समय कोई विशेष कारण होता है। ये कारण है– रूढि या प्रयोजन रूढि का अर्थ प्रसिद्धि है।

रूढि का उदाहरण लावण्य है। लवणस्य भावो लावण्यम्, लवण के भाव अथवा लवणयुक्त्व को 'लावण्य' कहना चाहिए। यही उसका मुख्यार्थ है परन्तु 'लावण्य' शब्द का प्रयोग काव्यों में सौन्दर्य के अर्थ में किया जाता है। इसका कारण प्रसिद्धि ही है। 'लावण्य' शब्द बहुल प्रयोग के कारण सौन्दर्य अर्थ में किया जाता है। इसका कारण प्रसिद्धि ही है। 'लावण्य' शब्द बहल प्रयोग के कारण सौन्दर्य अर्थ में रूढ हो गया है। इनमें 'भक्ति' 'लक्षणा' तो होती है परन्तु व्यङ्ग्य का अभाव होने से व्यङ्ग्यप्राधान्यरूप ध्वनि नहीं होती । इसका प्रतिपादन 16वीं कारिका में किया है।

दूसरी प्रयोजनवती लक्षणा होती है, इसमें किसी विशेष प्रयोजन से मुख्यार्थ को छोड़कर गौण अर्थ में शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' वाक्य में। गङ्गा की अर्थ गङ्गा का जलप्रवाह है और घोष का अर्थ आभीर पल्ली– धोबियों की बस्ती। गङ्गयां में सप्तमी विभक्ति का अर्थ आधारत्व है। इस 'प्रकार जलप्रवाह के ऊपर घोष है, यह वाक्यार्थ होता है। परन्तु जलप्रवाह के ऊपर धोबियों की बस्ती बन नहीं सकती इसलिए 'गङ्गा' शब्द 'तट' रूप अर्थ का बोध कराता है और उसका अर्थ गङ्गा के किनारे पर घोष है, यह होता है। यह अभीर पल्ली (घोष) विल्कुल गङ्गा में ही है अतः वहाँ शैत्यपावनत्व का अतिशय है इस बात को बोधन करने के लए 'गङ्गायां घोषः' इस प्रकार का प्रयोग किया गया है। शैत्यपावनत्व का बोधन करना लक्षणा का प्रयोजन है। यहाँ लक्षणा शक्ति के तटरूप अर्थ बाधित होता है और शैत्यपावनत्व के अतिशयरूप प्रयोजन का बोध व्यंजनावृत्ति से होता है। उसका बोध लक्षणा शक्ति से नहीं हो सकता। इसी बात का प्रतिपादन 18वीं कारिका में किया गया है।

'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य ें पहिले अभिधाशक्ति से वाच्यार्थ उपस्थित होता है, उसका बाध होने पर लक्षणा से तटरूप अर्थ प्रतीत होता है। यह लक्ष्यार्थ है, अर्थात् जिस अर्थ को लक्ष्यार्थ कहा जाता है उससे पूर्व मुख्यार्थ का उपस्थित होना और उसका बाध होना ये दोनों बातें लक्षणा में आवश्यक है। अब यदि शैत्य–पावनत्व के अतिशय को 'लक्ष्यार्थ' मानना चाहे तो उससे पूर्व उपस्थित 'तट'रूप अर्थ को मुख्यार्थ मानना और फिर उसका 'अन्वयानुपपत्ति' या 'तात्पर्यानुपपत्ति' रूप बाध मानना आवश्यक है। इसी के लिए कारिका में बाधितार्थबोधक 'स्खलद्गति' शब्द का प्रयोग किया गया है। परन्तु शैत्य पावनत्वातिशय बोधके पूर्व उपस्थित होनेवाला 'तट'रूप अर्थ न हो 'गङ्गा'शब्द का मुख्यार्थ ही है और न बाधित ही है। क्योंकि उसका घोष के साथ आधाराध्येभावसम्बन्ध मानने में कोई बाधा नहीं है। फिर भी बलात् यदि उसको बाधितार्थ माने तो भी फिर उसके बाद उपस्थित होनेवाले शैत्यपावनत्व के अतिशय को लक्ष्यार्थ करना होगा। जिसकी दशा में गङ्गा पद के इस अर्थ में रूढ न होने से उस लक्षणा का कोई प्रयोजन मानना पड़ेगा। उस दूसरे प्रयोजन को भी लक्ष्यार्थ कहोगे तो फिर उसका भी तीसरा प्रयोजन मानना होगा और इस प्रकार अनवस्था दोष होगा जो मूल को ही नष्ट कर देगा। अतः यह मार्ग ठीक नहीं है। यही 17 वीं कारिका का अभिप्राय है।

### 10.2.6 लक्षणाव्यापार और ध्वननव्यापार का भिन्न विषयकत्व निरूपण

अब ग्रन्थकार लक्षणा (भक्ति) एवं व्यंजना (ध्वनि) का भिन्न आश्रयत्व निरूपण कर यह सिद्ध करते है कि दोनों का भिन्नविषयकत्व है अतः भक्ति ध्वनि का लक्षण कैसे हो सकती है। यथा–

तस्मात्–

**वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता।**
**व्यंजकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम्।।**
**तस्मादन्यो ध्वनिः अन्या च गुणवृत्तिः।**

अव्याप्तिरप्यस्य लक्षणस्य। नहि ध्वनिप्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यलक्षणः, अन्ये च बहवः प्रकारा भक्त्या व्याप्यन्ते। तस्माद् भक्तिरलक्षणम्।

अर्थ– इसलिए– वाचकत्व (अर्थात् अभिधाव्यापार) के आश्रय से ही गुणवृत्ति (या लक्षणा) व्यवस्थित है, फिर व्यंजकत्व (व्यंजनाव्यापार) जिसका एकमात्र मूल है, उस ध्वनि का वह लक्षण कैसे हो सकती है?

इस कारण ध्वनि भिन्न है और गुणवृत्ति भिन्न है। इस लक्षण की अव्याप्ति भी है। ध्वनि के विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि, अर्थात् अभिधामूलध्वनि और ध्वनि के अन्य प्रकारों में भक्ति या लक्षणा व्याप्त नहीं रहती है इसलिए भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं है।

वस्तुतः लक्षणाव्यापार और व्यंजना व्यापार दोनों का विषयभेद है। गङ्गायां घोषः में 'भक्ति' या 'लक्षणा' का विषय तट और ध्वनि का विषय शैत्यपावनत्व है। विषयभेद होने से उन दोनों में धर्मधर्मिभाव नहीं हो सकता। धर्मिगत कोई धर्मविशेष ही 'लक्षण' होता है। ध्वनि और भक्ति में धर्मधर्मिभाव न होने से भी भक्ति 'ध्वनि' का लक्षण नहीं है। वाचक शब्द से बोधित मुख्यार्थ का बाध होने पर लक्षणा प्रवृत्त होती है इसलिए लक्षणा वाचकाश्रित या अभिधापूच्छभूता है वह विषयभेद होने से व्यंजनामात्राश्रित ध्वनि का 'लक्षण' नहीं हो सकती। विषयता संबन्ध से भक्ति का अधिकरण तीर, और ध्वनि का अधिकरण शैत्यपावनत्व है। अतः भक्ति ध्वनि का 'लक्षण' नहीं हो सकती यह सर्वथा सिद्ध है।

लक्षणा स्वयं अभिधा के आश्रित होने से परतन्त्र है। व्यंजना अपने व्यङ्ग्यार्थ के प्रकाशन में सर्वथा स्वतन्त्र है। अतः ध्वनि व भक्ति के पृथक् पृथक् होने से भक्ति ध्वनि का कदापि लक्षणा नहीं बन सकती है। अतिव्याप्ति ही नहीं अपितु अव्याप्ति दोष भी भक्ति के ध्वनि– लक्षण में आता है क्योंकि ध्वनि का विवक्षितान्यपरवाच्य नामक जो प्रभेद है और जो उसके अवान्तर प्रकार है, उन सब में भक्ति व्याप्त नहीं है। अतः लक्ष्यैकदेश में लक्षण के अप्रवृत्ति से अव्याप्ति दोष से भी भक्ति का ध्वनिलक्षण दूषित है।

### 10.2.7 भाक्तवाद के तृतीयविकल्प उपलक्षणवाद का खण्डन

ध्वनि और भक्ति भले ही एक रूप न हो, पर भक्ति ध्वनि का उपलक्षण तो हो सकता है, यदि ऐसी आशंका भक्तिवादी करे तो भी भक्ति से ध्वनि उपलक्षित नहीं हो सकता है–

**कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्।**

वृत्ति में इसकी व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं– सा पुनर्भक्तिर्वक्ष्यमाणप्रभेदमध्यादन्यतमस्य भेदस्य यदि नामोपलक्षणतया सम्भाव्येत। यदि च गुणवृत्यैव ध्वनिर्लक्ष्यत इत्युच्यते तदभिधाव्यापारेण तदितरोऽलङ्कारवर्गः समग्र एव लक्ष्यत इति प्रत्येकमलङ्काराणां लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्गः।

अर्थ– वह भक्ति ध्वनि के किसी विशेष भेद का (काकवद् देवदत्तस्य गृहम्' के समान अविद्यमानव्यावर्तक) उपलक्षण हो सकती है।

यदि अपने दुराग्रहवश आप केवल उपलक्षणामात्र से समस्त ध्वनि गतार्थ हो जायेगी ऐसा मानते हैं तो, अभिधाव्यापार मात्रा से ही सारा अलङ्कारवर्ग गतार्थ हो जायेगा, पुनः प्रत्येक अलङ्कारों का पृथक् पृथक् लक्षण करने की आवश्यकता ही नहीं है।

और यदि अभिधाव्यापार से ही समग्र अलङ्कारवर्ग भी लक्षित हो सकता है इसलिए (वैयाकरणों और मीमांसकों द्वारा अभिधा का लक्षण कर देने पर और उसके द्वारा

समस्त अलङ्कारों के लक्षित हो जाने से) अलग अलग अलङ्कारों के लक्षणकरना, अर्थात् भामह आदि अलङ्कारवादियों का प्रयास और सारा साहित्यशास्त्र ही व्यर्थ हो जाता है।

किंच–

**लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः।**

कृते व पूर्वमेवान्येर्ध्वनिलक्षणे पक्षसंसिद्धिरेव नः, यस्माद् ध्वनिरस्तीति नः पक्षः। स च प्रागेव संसिद्ध इति अयत्नसम्पन्नसमीहितार्थाः सम्पन्नाः स्म।

अर्थ– और भी– यदि अन्य लोगों ने ध्वनि का लक्षण कर दिया है तो हमारी पक्षसिद्धि ही होती है। अथवा यदि पहले ही कुछ विद्वानों ने ध्वनि का लक्षण कर दिया है तो हमारी पक्षसिद्धि ही होती है क्योंकि ध्वनि है यही हमारा पक्ष है, और वह पहिले सिद्ध हो गया इसलिए हम तो बिना प्रयत्न के ही सफल मनोरथ हो गये।

## 10.3 ध्वनिविरोधी तृतीयमत अनिर्वचनीयतावाद का समाधान

ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत के प्रारम्भ में अभाववाद, भाक्तवाद और अलक्षणीयतावाद मत इस प्रकार ध्वनिविरोधी तीन पक्ष दिखलाये थे। इनमें अभाववाद एवं भाक्तवाद का खण्डन विस्तारपूर्वक पूर्व के पाठ में तथा प्रस्तुत पाठ में किया गया है। इसी खण्डन प्रसङ्ग में 'यत्रार्थः शब्दो वा'' ध्वनि का सामान्यलक्षण करके ध्वनि के अलक्षणीयतावाद का भी निराकरण कर ही दिया है। अत एव ग्रन्थकार ने अलक्षणीयतावाद के लिए से कोई कारिका नहीं लिखी–

तथापि विषय को परिपूर्ण करने के लिए वृत्ति के द्वारा अलक्षणीयतावाद का खण्डन निम्नलिखित प्रकार से करते हैं–

''येऽपि सहृदयहृदयसंवेद्यमानाख्येयमेव ध्वनेरात्मानमाम्नासिषुस्तेऽपि न परीक्ष्यवादिनः। यत उक्त्या नीत्या वक्ष्यमाणया च ध्वनेः सामान्यविशेषलक्षणे प्रतिपादितेऽपि यद्यनाख्येयत्वं त्तसर्वेषामेव वस्तूनां तत्प्रसक्तम्। यदि पुनर्ध्वनेरतिशयोक्त्यानया काव्यान्तरातिशायि तैः स्वरूपमाख्यायते तत्तेऽपि युक्ताभिधायिन एव।''

अर्थ– जिन्होंने सहृदयसंवेद्य ध्वनि के स्वरूप को अवर्णनीय अलक्षणीय कहा है उन्होंने भी शोच–समझ कर ऐसा नहीं कहा है क्योंकि अबतक कही हुई प्रथा आगे कही जानेवाली नीति से ध्वनि के सामान्य और विशेषलक्षण प्रतिपादित कर देने पर भी यदि ध्वनि को अलक्षणीय कहा जाय तो फिर ऐसा अलक्षणीयत्व तो सभी वस्तुओं में आजायेग।

यदि वे इस अतिशयोक्ति द्वारा (वेदान्तियों के अनिर्वचनीयतावाद के समान) ध्वनि को अन्य काव्यों से उत्कृष्ट स्वरूप का प्रतिपादन करते है तब तो वे भी ठीक ही कहते हैं।

इस प्रकार ध्वनि के अलक्षणीयतावाद मत का स्वतः ही निराकरण हो जाता है।

**मूलपाठः**

यदप्युक्तं भक्तिर्ध्वनिरिति , तत्प्रतिसमाधीयते –

भक्त्या बिभर्ति नैकत्वम् रूपभेदादयं ध्वनिः

अयमुक्तप्रकारो ध्वनिर्भक्त्या नैकत्वं बिभर्ति भिन्नरूपत्वात् ।

वाच्यव्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं

यत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये स ध्वनिः । उपचारमात्रं तु भक्तिः ।

मा चौतत्स्याद्भक्तिर्लक्षणं ध्वनेरित्याह –

अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया।।14।।

नैव भक्त्या ध्वनिर्लक्ष्यते । कथम् ? अतिव्याप्तेरव्याप्तेश्च ।

तत्रातिव्याप्तिर्ध्वनिव्यतिरिक्तेऽपि विषये भक्तेः सम्भवात् । यत्र हि

व्यङ्ग्यकृतं महत्सौष्ठवं नास्ति तत्राप्युपचरितशब्दवृत्त्या

प्रसिद्ध्यनुरोधप्रवर्तितव्यवहाराः कवयो दृश्यन्ते । यथा –

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयत–

स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम् ।

इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः

कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम्।।

तथा –

शतकृत्वोऽवरुध्यते सहस्रकृत्वश्चुम्ब्यते ।

विरम्य पुना रम्यते प्रियो जनो नास्ति पुनरुक्तम्।।

तथा –

कुपिताः प्रसन्ना अवरुदितवदना विहसन्त्यः ।

यथा गृहीतास्तथा हृदयं हरन्ति स्वैरिण्यो महिलाः।।

तथा –

भार्यायाः प्रहारो नवलतया दत्तः प्रियेण स्तनपृष्ठे ।

मृदुकोऽपि दुःसह इव जातो हृदये सपत्नीनाम्।।

तथा –

परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो

यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः ।

न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपत्तिः

किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुवः।।

इत्यत्रेक्षुपक्षेऽनुभवतिशब्दः । न चौवंविधः कदाचिदपि

ध्वनेर्विषयः ।

यतः –

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन् ।

शब्दो व्यंजकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत् ।।15।।

अत्र चोदाहृते विषये नोक्त्यन्तराशक्यचारुत्वव्यक्तिहेतुः

शब्दः । किंच –

रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि ।

लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ।।16।।

तेषु चोपचरितशब्दवृत्तिरस्तीति । तथाविधे च विषये

क्वचित्सम्भवन्नपि ध्वनिव्यवहारः प्रकारान्तरेण प्रवर्तते ।

न तथाविधशब्दमुखेन ।

अपि च –

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्याऽर्थदर्शनम् ।

यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः ।।17।।

तत्र हि चारुत्वातिशयविशिष्टार्थप्रकाशनलक्षणे प्रयोजने

कर्तव्ये यदि शब्दस्यामुख्यता तदा तस्य प्रयोगे दुष्टतैव स्यात् ।

न चौवम् य तस्मात् –

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता ।

व्यंजकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम् ।।18।।

तस्मादन्यो ध्वनिरन्या च गुणवृत्तिः । अव्याप्तिरप्यस्य लक्षणस्य ।

न हि ध्वनिप्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यलक्षणः । अन्ये च

बहवः प्रकारा भक्त्या व्याप्यन्तः य तस्माद्भक्तिरलक्षणम् ।।

कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम् ।

सा पुनर्भक्तिर्वक्ष्यमाणप्रभेदमध्यादन्यतमस्य भेदस्य यदि

नामोपलक्षणतया सम्भाव्येत य यदि च गुणवृत्त्यैव ध्वनि–

र्लक्ष्यत इत्युच्यते तदभिधाव्यापारेण तदितरोऽलङ्कारवर्गः

समग्र एव लक्ष्यत इति प्रत्येकमलङ्काराणां लक्षणकरण–

वैयर्थ्यप्रसङ्गः । किं च

लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः ।।19।।

कृतेऽपि वा पूर्वमेवान्यैर्ध्वनिलक्षणे पक्षसंसिद्धिरेव नः य

यस्माद्ध्वनिरस्तीति नः पक्षः । स च प्रागेव संसिद्ध इत्ययत्न–

सम्पन्नसमीहितार्थाः संवृत्ताः स्मः । येऽपि सहृदयहृदय–

संवेद्यमनाख्येयमेव ध्वनेरात्मानमाम्नासिषुस्तेऽपि न परीक्ष्य

वादिनः । यत उक्तया नीत्या वक्ष्यमाणया च ध्वनेः सामान्यविशे–

षलक्षणे प्रतिपादितेऽपि यद्यनाख्येयत्वं त्तसर्वेषामेव वस्तूनां

तत्प्रसक्तम् । यदि पुनर्ध्वनेरतिशयोक्त्यानया काव्यान्तरातिशायि

तैः स्वरूपमाख्यायते तत्तेऽपि युक्ताभिधायिन एव ।।

## 10.4 सारांश

इस प्रकार प्रस्तुत इकाई में आपने ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत की कारिका सं. 14 से 19 तक का वृत्तिसहित अध्ययन किया। जिसमें आपने प्रमुख रूप से भाक्तवाद के प्रथम विकल्प अभेदवाद (अर्थात् भक्ति और ध्वनि के एकत्व का) ..........

विस्तारपूर्वक अध्ययन किया। साथ ही लक्षणाव्यापार और व्यंजनाव्यापार का भिन्नविषयकत्व निरूपण, दोनों आश्रय एवं विषय की भिन्नता सिद्ध होने के कारण भक्ति कभी भी ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती, अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष के अनेक उदाहरणों के द्वारा इसे तथ्य का परिपोषण, भाक्तवाद के तृतीय विकल्प उपलक्षणवाद का खण्डन कर ध्वनिभिन्न है और गुणवृत्ति (लक्षणा, भक्ति) भिन्न है इस सिद्धान्त की स्थापना, ध्वनि विरोधी तृतीयमत अलक्षणीयतावाद का समाधान प्रभृति विविध विषयों का सविशेष आपने अध्ययन किया।

उपर्युक्त इकाई के अध्ययन से आप आनन्दवर्धन के मतानुसार भाक्तवाद एवं अलक्षणीयतावाद का निराकरण करते हुए भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती तथा, ध्वनि भिन्न पदार्थ है और गुणवृत्ति (लक्षणा) भिन्न है अतः दोनों के एकत्व की बात कदापि सम्भव नहीं इत्यादि तथ्यों को भलीभाँति समझ चुके होंगे, जिससे ध्वन्यालोक ग्रन्थ में आपकी गति और प्रशस्त होगी।

## 10.5 शब्दावली

**निर्भ्रान्त** – भ्रान्ति से रहित होकर

**ध्वननव्यापार** – व्यंजनाव्यापार

**निराकरण** – समाधान, तार्किक रीति से खण्डन

| | | |
|---|---|---|
| **व्यतिरिक्त** | – | भिन्न |
| **उपचार** | – | सादृश्यसंबन्ध |
| **अतिशयित** | – | अतिशय, बढाचढाकर कहना |
| **अभेद** | – | जहाँ दो पक्षों में भेद न हो |
| **चमत्कार** | – | चमत्कृति, आनन्दातिरेक |
| **गुणवृत्ति** | – | लक्षणा (लक्षणाशक्ति का ही एक पर्याय है) |
| **कृशाङ्गी** | – | कोमलाङ्गी, दुबली–पतली, कृशकाय वाली |
| **ऊसर जमीन** | – | बंजर जमीन |
| **इक्षु** | – | ईख, गन्ना |
| **उदाहृत** | – | जिसका उदाहरण दिया गया हो |
| **रूढि** | – | प्रसिद्धि |
| **अन्वयानुपपत्तिः** | – | जहाँ वाक्य में अन्वय में बाधा हो |
| **तात्पर्यानुपपत्तिः** | – | जहाँ वाक्यार्थ में तात्पर्य में बाध हो |
| **उपलक्षण** | – | लक्षण के समीप |
| **पक्षसिद्धि** | – | अपने पक्ष की सिद्धि होना |
| **सहृदयसंवेद्य** | – | सहृदयों के अनुभूत |

## 10.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

**ध्वन्यालोकः** आनन्दवर्धनाचार्य विरचित, व्याख्याकार– आचार्य जगन्नाथपाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

**ध्वन्यालोक** व्याख्याकार– आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी

**ध्वन्यालोक** लीला संस्कृत हिन्दी व्याख्या सहित, आचार्य लोकमणि दहाल, भारतीयविद्याप्रकाशन, दिल्ली

**संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास** पी.वी. काणे, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली

**ध्वन्यालोक** व्याख्याकार– के.कृष्णमूर्ति, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

**ध्वन्यालोक** व्याख्याकार– डॉ. रामसागरत्रिपाठी, मोतीलालबनारसीदास, दिल्ली

**काव्यशास्त्रविमर्श** डॉ. कृष्णकुमार, मयङ्क प्रकाशन, कनखल, हरिद्वार

**ध्वन्यालोक** व्याख्याकार– डॉ. बालप्रियाटीकासमन्वित, काशी संस्कृत सीरिज, वाराणसी

**ध्वनिसिद्धान्त** डॉ. राममूर्तिशर्मा, अजन्ता पब्लिकेशन्स, जवाहरनगर, नई दिल्ली

**ध्वन्यालोकविमर्श** प्रो. माणिकगोविन्द चतुर्वेदी, अक्षरप्रकाशन, विश्वासनगर, दिल्ली

**आनन्दवर्धन** लेखक– प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी, मध्यप्रदेश, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल



## 10.7 बोध प्रश्न

1. भाक्तवाद के प्रथम विकल्प अभेदवाद का निराकरण प्रस्तुत करें।
2. 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' का खण्डन विस्तारपूर्वक उपस्थापित करें।
3. लक्षणाशक्ति एवं व्यंजनाशक्ति के भिन्न विषयकत्व को प्रतिपादित करें।
4. अनिर्वचनीयतावाद का समाधान निरूपित करें।
5. भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती इस तथ्य को सोदाहरण प्रतिपादित करें।
6. ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत के विषय वस्तू का निरूपण करें।

# इकाई 11 (ध्वन्यालोकः) चतुर्थ उद्योत, कारिका 1 से 6

**इकाई की रूपरेखा**



## 11.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप–

- ध्वनि के पूर्वोक्त प्रयोजनों में अन्तर को समझ पायेंगे।
- ध्वनि का सन्निवेश करने से कवियों की प्रतिभा में अनन्तता कैसे आ जाती है? इसको जान पायेंगे।
- अविवक्षितवाच्य या लक्षणामूलध्वनि के जो दो भेद किए जाते हैं अर्थान्तरसंक्रमित और अत्यन्ततिरस्कृत इनके प्रयोग से प्राचीन अर्थों के साथ सम्बन्ध रखने के बावजूद भी वाणी में नवीनता कैसे आ जाती है? इसको उदाहरण के माध्यम से समझ पायेंगे।
- अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि के प्रयोग से पुरानी बातें भी किस तरह नई जैसी लगती हैं? इसे उदाहरण से समझ पायेंगे।
- अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि के प्रयोग से कैसे वाणी में अपूर्वता का समावेश होता है? इसे जान पायेंगे।
- रसादि 8 ध्वनियों अर्थात् रस, भाव, रसाभास, भावाभास भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि, भावशबलता के प्रयोग से काव्यार्थों का किस प्रकार विस्तार हो जाता है? इसे समझ पायेंगे।

- ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रयोग से काव्यार्थ का कभी विराम नहीं होता है, वरन कवि में प्रतिभा हो तो उसका और विस्तार होता है। इसे भलीभाँति समझ पायेंगे।

## 11.1 प्रस्तावना (ध्वनि–प्रयोजन–विमर्श)

ध्वनि का विस्तार से वर्णन के बाद एवं उसकी विविध आचार्यों द्वारा की जा रही विप्रतिपत्तियों का समाधान करने के पश्चात् आचार्य आनन्दवर्धन ने चतुर्थ उद्योत में ध्वनि के जो प्रयोजन पूर्व में बतलाये गए हैं उनका क्या अभिप्राय है या उनमें क्या भेद है इसे बताने का सङ्कल्प लेते हैं। जैसा कि आनन्दवर्धन ने प्रथम उद्योत के प्रथम पद्य में ही लिखा है **'तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्।'** अर्थात् सहृदयजन की प्रीति अर्थात् सन्तुष्टि के लिए मैं इस ध्वनितत्त्व के स्वरूप का वर्णन करूँगा। इस प्रकार 'ध्वन्यालोक' इस ग्रन्थ का मुख्य प्रयोजन तो सहृदय जन की सन्तुष्टि है। किन्तु ध्वनि के भेदोपभेद का विस्तृत वर्णन करने के उपरान्त आनन्दवर्धन लिखते हैं–

**इत्युक्तलक्षणो यो ध्वनिर्विवेच्यः प्रयत्नतः सद्भिः।**

**सत्काव्यं कर्तुं वा ज्ञातुं वा सम्यगभियुक्तैः॥**

**ध्वन्यालोक तृ.उ.–४५–कारिका**

अर्थात् हमने जो ध्वनि का स्वरूप वर्णित किया है उसे सहृदय–सज्जनों को सत्काव्य को रचने के लिए तथा उसके परिज्ञान के लिए प्रयत्नपूर्वक विचार करना चाहिए।

इस प्रकार यहाँ ध्वनि के दो प्रयोजन का सङ्केत आनन्दवर्धन करते हैं –१. सत्काव्य की रचना २. सत्काव्य का ज्ञान या समझ। इस प्रकार कुल मिलाकर तीन प्रयोजन ध्वनि के बतलाये गए। इसके बाद चतुर्थ उद्योत में फिर से लिखते हैं **'एवं ध्वनिं सप्रपञ्चं विप्रतिपत्तिनिरासार्थं व्युत्पाद्य तद्व्युत्पादने प्रयोजनान्तरमुच्यते।'** अब यहाँ 'प्रयोजनान्तरमुच्यते' इस पद को लेकर यह शङ्का हो जाती है कि क्या ध्वनिकार फिर से किसी भिन्न प्रयोजन की चर्चा करने वाले हैं क्या? किन्तु चतुर्थ उद्योत का अध्ययन करने के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि वस्तुतः आनन्दवर्धन सहृदयमनःप्रीति को ही स्पष्ट करने के लिए उपर्युक्त दो प्रयोजन बताये और उन्हीं का विस्तृत और सरस विवेचन चतुर्थ उद्योत में करते हैं। जैसा कि उन्होंने बताया है कि कवि को ध्वनि के भेदोपभेदों का प्रयोग करते रहना चाहिए इससे न केवल कवि की प्रतिभा का विकास होता है, प्रत्युत काव्यार्थ में भी नवीनता आती है–

**ध्वनेर्यः सगुणीभूतव्यङ्गस्याध्वा प्रदर्शितः।**
**अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः।।**

इसके उपरान्त आनन्दवर्धन ने ध्वनि के भेदोपभेद के आश्रय से किस प्रकार वाणी में नवीनता आती है इसका विवेचन भी विस्तार से किया है। ध्वनि के प्रारम्भ में दो भेद करते हैं–

१.अविवक्षितवाच्यध्वनि २.विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि। इसमें अविवक्षितवाक्य के जो दो भेद अर्थान्तरसङ्क्रमित एवं अत्यन्ततिरस्कृत किए जाते हैं। उनके प्रयोग से वाणी में किस प्रकार नवीनता आती है इसे अनेक उदाहरणों से समझाने का प्रयास किया है। इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के भी दो भेद किये जाते हैं– १.असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि

२.संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि। इन दोनों भेदों के आश्रय से भी वाणी में किस प्रकार नवीनता आती है, इसे उदाहरणों से प्रस्तुत किया है। इस प्रकार इस इकाई में ध्वनि के प्रारम्भिक चार भेदों के प्रयोग से वाणी में अनन्तता तथा उसके माध्यम से कवि प्रतिभा के विकास का निरूपण किया गया है।

## 11.2 इकाई का शीर्षक–ध्वनि के प्रयोजन एवं ध्वनि के आश्रय से वाणी में नवीनता।

आचार्य आनन्दवर्धन ने चतुर्थ उद्योत का अन्य उद्योतों के साथ सङ्गति बैठाने के लिए लिखते हैं–**"एवं ध्वनिं स–प्रपञ्चं विप्रतिपत्ति–निरासार्थं व्युत्पाद्य तद्–व्युत्पादने प्रयोजनान्तरमुच्यते।"** अर्थात् इस प्रकार हमने द्वितीय और तृतीय उद्योतों में ध्वनि के संदर्भ में विद्वानों में जो तमाम प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ थी, उन सब का निराकरण करके ध्वनि सिद्धान्त को स्थिरता प्रदान की है। अब चतुर्थ उद्योत में मैं ध्वनि के प्रयोजन पर चर्चा करूँगा। क्योंकि ध्वनि निरूपण के जो प्रयोजन बतलाए जा चुके हैं, उसमें प्रथम उद्योत में प्रबन्ध का ही उद्देश्य उन्होंने बताया 'सहृदयमनःप्रीति' अर्थात् ध्वनिसिद्धान्त या इस ध्वन्यालोक का जो प्रमुख प्रयोजन है वह है सहृदय के मन को सन्तुष्टि प्रदान करना। तृतीय उद्योत में भी ध्वनि के प्रयोजन के सन्दर्भ में निम्न कारिका आई है–**"सत्–काव्यं कर्तुं वा ज्ञातुं वा सम्यगभियुक्तैः"** अर्थात् ध्वनि का प्रयोजन है, सत् काव्य की रचना और सत्काव्य की समझ। वस्तुतः ये दोनों प्रयोजन सहृदयमनःप्रीति का ही स्पष्टीकरण है।

और उसी प्रयोजन को इस चतुर्थ उद्योत में भलीभाँति समझाया जायेगा। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जब उसी का स्पष्टीकरण है तो फिर 'प्रयोजनान्तरम्' क्यों कहा गया। तो इसका समाधान है कि इसकी व्युत्पत्ति दो तरीके से की जा सकती है १. अन्यत् प्रयोजनमिति प्रयोजनान्तरम्' यहाँ अन्तर शब्द का अर्थ होगा भिन्न। और २. प्रयोजनयोरन्तरमिति' प्रयोजनान्तरम्। तब अर्थ होगा दो प्रयोजनों में भेद। यहाँ दूसरी व्युत्पत्ति ही गृहीत होगी। क्योंकि चतुर्थ उद्योत में यह बताया जाएगा की सत्काव्य की रचना और सत्काव्य का बोध इन दोनों प्रयोजनों में क्या विशेषताएँ हैं। जिनसे सत्काव्य की रचना ध्वनि निरूपण का प्रयोजन है तथा वे कौन सी विशेषताएँ हैं जिससे सत्काव्य का बोध ध्वनि निरूपण का प्रयोजन है। काव्य की रचना और उसका ज्ञान दोनों दो काल में होने वाली वस्तु है जब तक काव्यरचना नहीं हो जाती तब तक उस पर विचार भी सम्भव नहीं होता। अतः यहाँ पहले कवि की दृष्टि से ध्वनि निरूपण के प्रयोजन पर विचार किया जा रहा–

**ध्वनेर्यः सगुणीभूतव्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शितः।**
**अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः।।**

गुणीभूतव्यङ्ग्य के साथ ध्वनि का जो मार्ग दिखाया गया है इससे कवियों की प्रतिभा नाम गुण का विस्तार होता है। वृत्ति में उसे और स्पष्ट रूपे से लिखते हैं कि ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के मार्ग का प्रकाशन किया गया है उसका दूसरा फल है कवि की प्रतिभा में अनन्तता –**"य एष ध्वनेर्गुणीभूतव्यङ्गस्य च मार्गः प्रकाशितः तस्य फलान्तरं कविप्रतिभानन्त्यम्।"** कैसे ऐसा होता है ? कथमिति चेत्?

यहाँ जो प्रश्न उपस्थापित किया गया है उसका आशय यह है कि कार्य–कारणभाव प्रायशः समानाधिकरण में होता है। ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य दोनों काव्यनिष्ठ धर्म हैं।

और प्रतिभागुण कविनिष्ठ धर्म है। अतः दोनों व्यधिकरण धर्म है। व्यधिकरण धर्मों में कार्य कारण नहीं हुआ करता। ऐसी स्थिति में ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य भिन्न अधिकरण में रहने के कारण कवि प्रतिभा के आनन्त्य के हेतु कैसे हो सकेंगे?

इसका उत्तर यह है कि ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य नहीं अपितु उनका ज्ञान कवि प्रतिभा के आनन्त्य का हेतु होता है। ज्ञान और प्रतिभा दोनों कविनिष्ठ धर्म है, अतः 'ज्ञान–द्वारक–समानाधिकरण' को लेकर कार्यकारण भाव स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है। इसलिए द्वितीय कारिका में कहते हैं–

**अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता।**
**वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि।।**
**ध्वन्यालोक–४.२**

ध्वनि के जितने भी प्रकार बताए गए हैं। इनमें से एक भी प्रकार से यदि वाणी विभूषित हो जाती है तो प्राचीन अर्थ के साथ सम्बन्ध रखती हुई भी नवीनता को प्राप्त कर लेती है।

अर्थात् ध्वनि के बहुत से भेद प्रभेदों पर प्रकाश डाला जा चुका है। उनमें से किसी एक का ही आश्रय ले लेने से बात में नवीनता आ जाती है भले ही किसी पूर्व कवि द्वारा उस बात को कह दिया गया हो। **"अतो ध्वनेरुक्त–प्रभेद–मध्यादन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता सती वाणी पुरातन–कवि–निबद्धार्थ–संस्पर्शवत्यपि नवत्वमायाति।"**

सर्वप्रथम यह दिखलाया जा रहा है कि अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दोनों प्रकार की योजना से पूर्व में कही गई बातों में किस प्रकार नवीनता आ गई है। जैसे–

**स्मितं किञ्चिन्मुग्धं तरल–मधुरो दृष्टि–विभवः,**
**परिस्पन्दो वाचामभिनव–विलासोर्मि–सरसः।**
**गतानामारम्भःकिसलयित–लीला–परिमलः**
**स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव हि न रम्यं मृगदृशः॥**

कभी मुस्कुराहट मुग्ध हो जाती है, आँखों का वैभव तरल और मधुर हो जाता है, बातें नए हाव–भाव की तरंगों से रसीली बन जाती है, उसके गमन की शुरुआत किसलय वाली लीला का पराग बन जाती है। इस प्रकार यौवन को छूने वाली उस मृगनयनी तरुणी का क्या सुन्दर नहीं है? अर्थात् सब कुछ सुन्दर है।

इस श्लोक के शब्दप्रयोग विचारणीय है सबसे पहला **'स्मितं किञ्चिन्मुग्धम्'** अर्थात 'मुस्कुराहट कुछ मुग्ध है' 'मुग्ध' कहते हैं भोला–भाला को, तो मुग्ध कोई व्यक्ति हो सकता है, मुस्कुराहट में मुग्धता नहीं होती, अतः यह शब्दार्थ में बाधित होकर स्वाभाविक इस अर्थ को लक्षित कराता है। और इससे प्रयोजन रूप व्यङ्ग्य निकलता है कि मुस्कुराहट में बिना किसी बनावट के सौन्दर्य का अतिरेक विद्यमान है।

दूसरा है **'दृष्टिमधुरः'** लेकिन मधुर तो कोई खाद्य पदार्थ हो सकता है। दृष्टि के लिए यह विशेषण बाधित है। अतः इसे लक्ष्यार्थ निकलता है कि दृष्टि का प्रसार सुन्दर है। इसका प्रयोजन रूप व्यङ्ग्यार्थ होगा कि दृष्टि का प्रसार इतना आकर्षक है कि बिना किसी रुकावट के सभी रसिकों के हृदयों का प्रेम अपनी ओर खींच लेता है।

तीसरा प्रयोग है **'दृष्टिविभवः'** अर्थात् दृष्टि का वैभव' वैभव यहाँ ऐश्वर्य को कहते हैं और ऐश्वर्य व्यक्ति का हो सकता है दृष्टि का नहीं इससे लक्ष्यार्थ निकलता है 'दृष्टि का प्रसार' और व्यङ्यार्थ निकलता है कि नायिका का दृष्टिपात बेरोकटोक अविरत गति से हो रहा है, उसको कोई रोक नहीं सकता। चौथा प्रयोग है **'परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोर्मिसरसः'** अर्थात् 'वाणी का सरस प्रवाह' सरस प्रवाह जलधारा का ही हो सकता है वाणी का नहीं, इससे लक्ष्यार्थ निकलता है कि वह निरन्तर श्रुति सुखद वाणी बोल रही है और इससे व्यङ्या वर्थ निकलता है कि उसकी मधुर वाणी को सुनकर सन्ताप शान्त हो जाता है और ह्रदय में एक तृप्ति का अनुभव होने लगता है।

पाँचवाँ प्रयोग है **'गतानामारम्भः किसलयित'** गमन किसलय का कार्य कर रहा है।' यहाँ गमन का किसलय कार्य असम्भव है। अतः बाध होकर लक्ष्यार्थ निकलता है कि उसकी चाल में मनोहरता है। इससे व्यङ्ग्य निकलता है कि उसकी चाल सुकुमार से युक्त है और हर समय सौकुमार्य का ही अनुवर्तन करती रहती है।

छठा है **'लीला–परिमलः'** परिमल कमलों का हो सकता है लीला में संभव नहीं है। अतः बाधित होकर परिमल शब्द सुन्दरता को लक्षित करता है। जिससे व्यङ्या नर्थ निकलता है उसकी चाल इतनी सुंदर है कि प्रयत्न पूर्वक उसे देखने का अभिलाषा की जानी चाहिए।

और सातवाँ है **'स्पृशन्त्याः तारुण्यम्'** अर्थात् 'तारुण्य का स्पर्श' यहाँ स्पर्श किसी मूर्त वस्तु का किया जा सकता है तारुण्य का संभव नहीं है। अतः बाध होकर लक्षित होता है कि उसके अन्दर तारुण्य का सञ्चार हो गया है। इससे व्यङ्ग्यार्थ निकलता है कि तारुण्य उसके अंग से मिलकर बहुत ही सङ्गत प्रतीत होता है।

यहाँ पर स्मित इत्यादि शब्दों के वाच्यधर्म का सर्वथा परित्याग हो जाता है। और अत्यन्ततिरस्कृत के द्वारा दूसरे धर्मों का आधान किया जाता है। इसलिए इस पद में अभूतपूर्व चारुता की प्रतीति होने लगती है।

किन्तु इस पद में कोई बिल्कुल नई बात नहीं कही गई है। रमणियों की मुस्कुराहट, दृ ष्टिपात, भोली–भाली वाणी का सरस प्रवाह और लीला–गति, ये ऐसे तत्व हैं जिनका कविता में प्रायः प्रयोग होता ही है। इस पद की रचना के पहले किसी कवि ने लिखा था–

**स–विभ्रम–स्मितोद्भेदा लोलाक्ष्यः प्रस्खलद्–गिरः।**

**नितम्बालस–गामिन्यः कामिन्यः कस्य न प्रियाः॥**

अर्थात् विलास सहित खिली हुई मुस्कानों वाली, चञ्चल ऑखों वाली लड़खड़ाती हुई आवाज वाली, नितम्ब के भार से अलसा कर चलने वाली कामिनी किसे प्रिय नहीं लगती।

प्रस्तुत् पद में भी मुस्कानों का खिलना, आवाज का लड़खड़ाना जैसे प्रयोग से शब्दों के सामान्य अर्थ तिरस्कृत होकर अपूर्व अर्थ को प्रदान करते हैं।

अर्थान्तरसंक्रमित–वाच्यध्वनि के प्रयोग से भी वाणी में अपूर्वता आती है। जैसे–

**यः प्रथमः प्रथमः स तु तथाहि हत–हस्ति–बहल–पललाशी।**

**श्वापद–गणेषु सिंहः सिंहः केनाधरी–क्रियते॥**

अर्थात् जो पहला है वह पहला ही रहेगा जैसे हाथी को मारकर उसके सम्पूर्ण मांस को खाने वाले हिंसक जंगली जानवरों में सिंह किससे दबाया जा सकता है।

प्रस्तुत पद्य में जो प्रथम है वह प्रथम है यह कोई बात नहीं है। तात्पर्यानुपपत्ति के कारण दूसरा प्रथम शब्द स्वार्थ में बाधित है और उससे लक्ष्यार्थ निकलता है कि जिसको अपने गुणों के कारण प्रथम स्थान प्राप्त होता है। वह सर्वथा प्रधान ही बना रहता है और इसका प्रयोजन रूप व्यङ्ग्यार्थ है कि जिस व्यक्ति को समाज प्रधान मान लेता है उसके गुण इतने महान होते हैं कि उसकी प्रधानता को टाल सकने की शक्ति किसी में नहीं होती और उसमें लोक की अपेक्षा एक विलक्षणता तथा असाधारणता होती है। अतः यह अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षितवाच्यध्वनि है।

किन्तु यह भाव भी कोई नया नहीं है। इस पद्य की रचना में भी एक पुराने श्लोक का भाव लिया गया है। वह श्लोक है–

**स्व–तेजः–क्रीत–महिमा केनान्येनातिशय्यते।**
**महद्भिरपि मातङ्गैः सिंहः किमभिभूयते।।**

अर्थात् अपने पराक्रम से जिसने बड़प्पन खरीदा हो, वह किसी दूसरे के द्वारा कभी भी दबाया नहीं जा सकता। जैसे बड़े–बड़े हाथियों से भी सिंह क्या कभी पराजित हो पाता है।

प्रथम पद्य का भाव भी लगभग वही है वस्तु में प्रायः कोई अन्तर नहीं है अन्तर है तो केवल इतना कि उस पद्य में वही बात करने के लिए अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि का आश्रय लिया गया है। इस प्रकार ध्वनि की प्रक्रिया का सहारा ले लेने से पुराना अर्थ भी नया हो गया है।

विवक्षितान्यपरवाच्य यह जो असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भेद किए जाते हैं उनके प्रयोग से भी वाणी में नवीनता आती है। जैसे–

**निद्रा–कैतविनः प्रियस्य वदने विन्यस्य वक्त्रं वधू–**
**बोंध–त्रास–निरुद्ध–चुम्बन–रसाप्याभोग–लोलं स्थिता।**
**वैलक्ष्याद्विमुखीभवेदिति पुनस्तस्याप्यनारम्भिणः**

**साकाङ्क्ष–प्रतिपत्ति नाम हृदयं यातं तु पारं रतेः॥**

अर्थात नींद का बहाना बनाकर सोए हुए प्रियतम के मुख पर अपना मुख रखकर नई नवेली बहू प्रिय के जग जाने के डर से चुंबन लेने की अपनी इच्छा को रोककर भी चंचल हो गई। उधर प्रिय भी सोचता है कि अगर मैं जरा भी हरकत करूँगा तो यह लजाकर दूर हो जाएगी इसलिए उसने भी अपनी ओर से कोई प्रतिक्रिया नहीं की परन्तु उसके हृदय में जो चुंबन की आकांक्षा बनी थी उससे उसे परम आनंद की अनुभूति हो रही थी।

उदाहरण का भावार्थ है प्रियतम निद्रा का अभिनय कर रहा है वस्तुतः सो नहीं रहा है अपितु अपने को ऐसा प्रकट कर रहा है कि मानों वह सो रहा है और वधु के अन्दर

सहवास की इतनी उत्कट आकांक्षा थी कि वह क्षण मात्र विलम्ब भी सहन नहीं कर सकती थी किन्तु प्रियतम के सो जाने के कारण उसे सहवास तत्काल सुलभ नहीं था। अतः उसने प्रियतम के मुख पर अपना मुख रख लिया, जिससे उसे बदन स्पर्श का ही सुख प्राप्त हो सके क्योंकि सोने वाला व्यक्ति उसका प्रियतम था और वह वधु थी अर्थात् नई ही ब्याह करके आई थी अतः प्रियतम से उसका संकोच पूर्ण रूप से छूटा नहीं था। अतएव उसे भय मालूम पड़ रहा था कि कहीं प्रियतम जाग न पड़े। इसलिए यद्यपि उसके अन्दर बार बार चुंबन की उत्कण्ठा उदित हो रही थी। फिर भी वह बड़ी कठिनाई से अपनी उस अभिलाषा को दबा दे रही थी। फिर भी बार–बार उसके अंदर चंचलता उत्पन्न हो जाती थी, और जब यह विचार करती थी कि प्रियतम तो सो रहा है क्यों न अपनी चुंबन की अभिलाषा पूरी कर ली जाए तब उसकी वह चञ्चलता और अधिकतम हो जाती थी। चञ्चलता का आशय है कि वह न तो चुम्बन कर ही सकती थी और न चुम्बन से सर्वथा निवृत हो सकती थी। दूसरी ओर प्रियतम सोचता था यह इस प्रकार मुख पर मुख रखे हुए दुविधा में पड़ी है यदि मैं इसका चुम्बन करूँ तो लज्जा के कारण सहवास से पृथक हो जाएगी अतः प्रियतम भी अपनी ओर से चुम्बन का प्रारम्भ नहीं कर रहा था। इस प्रकार दोनों की स्थिति आकांक्षा से भरी हुई थी दोनों का मन उत्कण्ठा से पीड़ित था, किन्तु मनोरथ की पूर्णता से उनके मन को सफलता नहीं मिली थी। ऐसी स्थिति में भी उनका हृदय रति के पार पहुँच गया था। उनका हृदय रति की अन्तिम सीमा पर पहुँच गया और उनका श्रृंगार पूरा हो गया। इसी भाव को समेटे हुए अमरुक कवि ने भी लिखा है–

**शून्यं वास–गृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै–**
**र्निद्रा–व्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।**
**विस्रब्धं परिचुम्ब्य जात–पुलकामालोक्य गण्ड–स्थलीं,**
**लज्जा–नम्र–मुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता॥**

सूने शयनकक्ष को देखकर धीरे से पलंग से उठकर नींद का बहाना बनाकर सोये हुए पति के मुँह को देर तक देख कर, और सो गए हैं इस प्रकार आश्वस्त होकर जोर से प्रियतमा ने उसका चुम्बन ले लेती है। उसके बाद पति के गाल के पास रोमाञ्च देखकर लज्जा से मुँह छुपा लेती है। और फिर हँसते हुए प्रिय ने बहुत देर तो उसका चुम्बन लिया।

अर्थात् नायिका ने भली–भाँति देख लिया कि सोने का कमरा बिल्कुल सूना है। पति और मेरे अलावा कोई नहीं दिख है तो वह चुपके से अपनी चारपाई से कुछ उठी अर्थात् आधे शरीर से लेटी रही और शरीर का आधा उपरी भाग उसने कुछ उठाया, प्रियतम पास ही लेटा हुआ था। वह सो नहीं रहा था किन्तु सोने का बहाना कर रहा था। वह बड़ी देर तक अपने प्रियतम के मुख की ओर ध्यान से देखती रही। जब उसे विश्वास हो गया कि प्रियतम वस्तुतः सो ही गया है। तब उसने निश्चिंतता से प्रियतम के गाल का चुम्बन किया। जिससे कामोद्दीपन जन्य हर्षातिरेक से प्रियतम के गाल पर रोंगटे खड़े हो गए। यह देखकर उसे लज्जा आ गई, और उसने सिर झुका लिया। प्रियतम हँसते हुए उठा, और उसने अपनी प्रियतमा का बड़ी देर तक चुम्बन किया।

दोनों पद्य का अर्थ एक ही है किन्तु फिर भी रूप विधान में कुछ अन्तर है। अमरूक के पद में चुम्बन का कार्य पूरा हो गया है। किन्तु प्रथम पद में वह आकांक्षा में है। अमरूक के पद में लज्जा शब्द का ही प्रयोग किया गया है। जिससे उसमें स्ववाच्यता

आ गई है किन्तु प्रथम पद में लज्जा के लिए विलक्ष शब्द का प्रयोग किया है। जिसका अर्थ होता है स्वभाव का परिवर्तन अर्थात् उत्कण्ठा की शान्ति और लज्जा का उदय।

इस प्रकार प्रथम पद में लज्जा व्यङ्ग्य है। अमरुक के पद में नायक और नायिका दोनों एक दूसरे को चूमते हैं, इस प्रकार रति उभयनिष्ठ है। अतः पूर्ण स्थायीभाव है। इसके पोषक सभी तत्त्व विद्यमान हैं– नायिका इत्यादि आलम्बन विभाव, शून्यवासगृह इत्यादि उद्दीपन, शय्या से उठना इत्यादि अनुभाव, और लज्जा इत्यादि सञ्चारी भावों से पुष्ट होकर उभयनिष्ठ वह रति आस्वादगोचर होकर पूर्ण श्रृंगार का रूप धारण कर लेती है। यद्यपि अमरूक के पद में भी कमी नहीं है। किन्तु प्रथम श्लोक में ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी गई है कि एक दूसरे के अन्दर अभिलाषा तो विद्यमान हैं, किन्तु उसका प्रचार एकदम रुका हुआ है और यह रुकावट की परम्परा अभी समाप्त होती हुई नहीं जान पड़ती। इस प्रकार अवरूद्ध हो जाने के कारण रति का उपभोग नहीं हो रहा है। जिससे रति की तीव्रतम अवस्था को प्राप्त हो गई है। वह रति यह बात प्रकट करती है कि दोनों की चित्तवृत्ति का अनुप्रवेश एक जैसा ही है। इस प्रकार रति का जितना पोषण प्रथम श्लोक में हुआ है। उतना अमरूक के पद में नहीं हुआ है। इस प्रकार इस उदाहरण से सिद्ध होता है कि विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि की नई भङ्गिमा का आश्रय ले लेने से पुराना अर्थ किस तरह से नया हो जाता है।

उपर्युक्त दोनों श्लोक विवक्षितान्यपरवाच्य के असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के हैं। प्रथम श्लोक में यद्यपि नायक और नायिका दोनों का हृदय चुम्बन की उत्सुकता से पीड़ित है। मनोरथ अधूरा ही है। तथापि हृदय परम आनन्द का अनुभव करता है। इस प्रकार यहाँ संयोग श्रृङ्गार परिपूर्ण हो जाता है। दूसरे श्लोक में भी यद्यपि श्रृंगार पोषित है तथापि लज्जा के स्वशब्द से कहे जाने के कारण कुछ शिथिलता आ गई है। इसी प्रकार–

**तरङ्ग–भ्रू–भङ्गा क्षुभित–विहग–श्रेणि–रशना,**
**विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भ–शिथिलम्।**
**यथा–विद्धं याति स्खलितमभिसन्धाय बहुशो**
**नदी–रूपेणेयं ध्रुवमसहना सा परिणता।।**
**विक्रमोर्वशीयम्**५२/४–

अर्थात् तरङ्गें जिसकी भ्रूभङ्ग हैं, खलबल पक्षिसमुदाय की आवाज जिसकी काञ्ची है, रगड़ से ढीले पड़े वस्त्र की भाँति फेन को धारण करती हुई एवं बहुत बार स्खलन को प्राप्त कर कुटिल चाल से चलती हुई वह निश्चय ही नदी के रूप से मुझ पर क्रुद्ध हो गई है।

इस श्लोक पर एक अज्ञात कवि और के श्लोक '**नानाभङ्गिभ्रमद्भूः...**' की छाया पड़ी है। वृत्तिकार ने इसे असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अर्थात् रसध्वनि का आश्रय लेने से किस प्रकार नवीनता आती है इसके उदाहरण के रूप में दर्शाया है। इस प्रकार ध्वनि के चारों भेद के उदाहरण देकर आचार्य ने यह सिद्ध किया कि इनके आश्रय से वाणी में नवीनता आ जाती है।

अब असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के अवान्तर उपभेदों के सम्बन्ध में निर्देशित करते हुए कहते हैं–

**युक्त्यानयानुसर्तव्यो रसादिर्बहु–विस्तरः।**

**मिथोऽप्यनन्ततां प्राप्तः काव्य–मार्गो यदाश्रयः॥**

**बहु–विस्तारोऽयं रस–भाव–तदाभास–तत्प्रशम–लक्षणो मार्गो यथास्वं विभावानुभाव–प्रभेद–कलनया यथोक्तं प्राक्। स सर्व एवानया युक्त्यानुसर्तव्यः। यस्य रसादेराश्रयादयं काव्य–मार्गः पुरातनैः कविभिः सहस्र–संख्यैरसंख्यैर्वा बहु–प्रकारं क्षुण्णत्वान्मितोऽप्यनन्ततामेति। रस–भावादीनां हि प्रत्येकं विभावानुभाव–व्यभिचारि–समाश्रयादपरिमितत्वम्। तेषां चौकैक–प्रभेदापेक्षयापि तावज्जगद्–वृत्तमुपनिबध्यमानं सुकविभिस्तदिच्छा–वशादन्यथा स्थितमप्यन्यथैव विवर्तते ।**

**ध्वन्यालोक–४.३**

अर्थात् कवि को इसी युक्ति से अत्यन्त विस्तार वाले रसादि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का अनुसरण करना चाहिए। इस आधार पर थोड़ा भी काव्य का मार्ग अनन्तता को प्राप्त हो जाता है।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के यद्यपि एक ही भेद माना गया है, किन्तु इसका विस्तार रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि, भावशबलता और इसके अतिरिक्त इनके विभाव, अनुभाव आदि प्रभेद से इसका पर्याप्त विस्तार हो जाता है। नाना प्रकार के कवि अपने सामर्थ्य से इसे और अनन्तता प्रदान करते हैं। किसी महाकवि ने इस सन्दर्भ में एक गाथा लिखी है, जिसका संस्कृत अनुकरण है–

**अतथा–स्थितानपि तथा–संस्थितानिव हृदये या निवेशयति।**

**अर्थ–विशेषान्सा जयति विकट–कवि–गोचरा वाणी॥**

जो उस रुप में स्थित न होते हुए भी अर्थ विशेष को उस रूप में हृदय में निविष्ट कर देती है उस विकट कविगोचर वाणी की जय हो।

इसीलिए कहा जाता है कि रस का सन्निवेश कर देने से पहले प्रयोग में आया हुआ भी काव्यार्थ वसन्त ऋतु में नए पत्तों के आगमन से पुराने सभी वृक्ष की भाँति नए प्रतीत होते हैं–

**दृष्ट–पूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रस–परिग्रहात्।**

**सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥**

**ध्वन्यालोक–४.४**

आचार्य का कथन एकदम यथार्थ है उपजीव्य काव्य के आधार पर बाद के प्रतिभाशाली कवियों द्वारा विरचित अनेक काव्य अपनी नवीनता के कारण सहृदयजनग्राह्य बने और कुछ तो इतने प्रचलित हुए कि अपने उपजीव्य को भी अपने आगे छोटा कर दिया। उदाहरण के तौर पर हम महाकवि कालिदास की रचनाओं को ले सकते हैं। वृहत्त्रयी जो कि महाभारत के छोटे आख्यानों पर निर्मित हुए हैं उसके बाद भी उनका महत्त्व अधिक है। हिन्दी साहित्य में इसका सर्वाधिक प्रसिद्ध उदाहरण है 'रामचरितमानस' जो कि वाल्मीकि के रामायण को आधार बनाकर लिखा गया और आज रामायण का प्रतिनिधि बन गया है। उसी प्रकार महाभारत के कर्ण के चरित्र को आधार बनाकर

लिखा गया 'रश्मिरथी' अपने आप में नवीनता का कलेवर लिए हुए है। इसलिए ध्वनिकार का कथन शत–प्रतिशत सही है। इस प्रकार रस–भाव आदि का आश्रय लेने से काव्यार्थों का आनन्त्य का प्रतिपादन भलीभाँति कर दिया गया।

अब आगे विवक्षितान्यपरवाच्य अर्थात् संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के प्रयोग से वाणी में नवीनता किस प्रकार आती है इसे बताते हैं–

विवक्षितान्यपरवाच्य के पहले तीन भेद किए गए हैं। 1. शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्य 2. अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्य और 3. उभयशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्य। इनमें पहले के जो दो भेद होते हैं– वस्तु ध्वनि एवं अलङ्कार ध्वनि उनके सन्निवेश से वाणी में कैसे नवीनता आती है इसको दो उदाहरणों से दिखाते हैं–

एक पुराना भाव है–

**शेषो हिम–गिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः।**

**यदलङ्घित–  मर्यादाश्चलन्तीं बिभ्रते भुवम्॥**

कोई चाटुकार राजा की प्रशंसा करते हुए कहता है कि हे राजन्! केवल तीन व्यक्ति ऐसे हैं जो अपनी मर्यादा को न छोड़ते हुए विचलित भूमि को धारण करते हैं– शेषनाग, हिमालय, और आप। तीनों महान् हैं, गुरु हैं, और स्थिर हैं।

इसी भाव को बाणभट्ट ने हर्षचरित में अपनाया है। प्रभाकरवर्धन और राज्यवर्धन दोनों समाप्त हो चुके हैं और केवल हर्षवर्धन बचे हैं, जो राज्य का भार वहन करने में समर्थ हैं। इसी प्रसङ्ग में निम्न वाक्य का प्रयोग किया गया है–**"वृत्तेऽस्मिन्महा–प्रलये धरणी–धारणायाधुना त्वं शेषः।"** अर्थात् महाप्रलय जैसे शोक के कारणभूत प्रसङ्ग में पृथ्वी के धारण के लिए तुम शेष हो। यहाँ शेष के दो अर्थ हो सकता है शेषनाग और अवशिष्ट। प्रकरण के कारण राज्यभार वहन करने में अवशिष्ट इस अर्थ में अभिधा का नियन्त्रण हो जाता है। तब दूसरा अर्थ व्यङ्ग्य होकर उपमानोपमेय भाव धारण कर लेता है जिस प्रकार पृथ्वी को धारण करने के लिए शेषनाग है उसी प्रकार तुम भी राज्य भार ग्रहण करने के लिए अवशिष्ट हो। इस उपमा में महाराज हर्ष में राज्य वहन करने की अभूतपूर्व क्षमता अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार शेष शब्द के प्रयोग द्वारा शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूपव्यङ्ग्य विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का सम्पादन कर उसमें नवीनता ला देता है।

विवक्षितान्यपरवाच्य का दूसरा भेद है अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनि। इसके प्रयोग से भी वाणी में नवीनता आती है। जैसे–

**कृते वर–कथालापे कुमार्यः पुलकोद्गमैः।**
**सूचयन्ति स्पृहामन्तर्लज्जयावनताननाः।।**

अर्थात् वर के सम्बन्ध में बातचीत करने पर भीतर ही लज्जा से मुँह झुकाई हुई रोमाञ्चित कुमारियाँ अपनी स्पृहा अर्थात् चाहत को सूचित करती हैं। आशय यह है कि जब कुमारियों के सामने उनके माता–पिता उसके विवाह या उसके भावी पति के विषय में बात करते हैं तो लज्जा से उनका सिर नीचे झुक जाता है। इस प्रकार वे अपनी अन्तर्गत अभिलाषा को अभिव्यक्त करने लगती हैं। इस पद्य का भाव कालिदास कुमारसम्भव में भी आया है–

**एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोऽमुखी।**

**लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥**

**कुमारसम्भव–६.८४**

अर्थात् देवर्षि नारद जब पार्वती के समक्ष ही उनके पिता हिमालय से उसके विवाह के सन्दर्भ में बात करते हैं तो वह नीचे मुख करके लीला में बनाये गए कमल के पत्ते गिनने लगती है।

इस प्रकार उपर के श्लोक में लज्जा शब्दशः उपात्त है किन्तु कालिदास ने उसे लीला कमलपत्रों की गणना के द्वारा अभिव्यक्त किया है। इस प्रकार यहाँ अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्य विवक्षितान्यपरवाच्य का आश्रय लेने से अर्थ में नवीनता आई है। यहाँ अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्य के स्वतःसम्भवी के वस्तु से वस्तु व्यञ्जना का उदाहरण है।

अब कविप्रौढोक्तिरूप वस्तु से भी वस्तुध्वनि होती है। इसके आश्रयण से वाणी में नवीनता का उदाहरण देते हैं–

**सुरभि–समये प्रवृत्ते सहसा प्रादुर्भवन्ति रमणीयाः।**

**रागवतामुत्कलिकाः सहैव सहकार–कलिकाभिः॥**

वसन्त ऋतु में रागियों अर्थात् प्रेमी जनों की उत्कण्ठा आमों की कलिकाओं के साथ ही उत्पन्न हुआ करती हैं।

**सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयति युवतिजनलक्ष्यमुखान्।**

**अभिनव–सहकार–मुखान्नवपल्लवपत्रनाननङ्गस्य शरान्॥**

**ध्वन्यालोक–२/२४ कारिका के अन्तर्गत**

अर्थात् वसन्तमास युवतिजनों को लक्ष्य करने वाले मुखों अर्थात् अग्रभाग से युक्त, नये पल्लवों के पंखों से युक्त, नये सहकारप्रभृति कामदेव के बाणों को तैयार कर रहा है। अभी प्रहार करने के लिए उन्हें कामदेव को अर्पित नहीं कर रहा है।

इस प्रकार उपर्युक्त दोनों श्लोकों का भाव समान है। किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि द्वितीय पद्य में वसन्त मास का कामदेव के बाणों को तैयार करना कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु है। जिससे अत्यन्त गाढी होने वाली मन्मथ की दशा अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार कविकल्पित वस्तु से वस्तुध्वनि के कारण पुराने भाव में नवीनता आ गई है।

इसी प्रकार कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति के वस्तु से वस्तुध्वनि के प्रयोग से भी वाणी में नवीनता आती है। जैसे बनिये के पूछने पर व्याध का उत्तर है–

**वाणिजक! हस्ति–दन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्र–कृत्तयश्च।**

**यावल्लुलितालक–मुखी गृहे परिष्वक्कते स्नुषा॥**

**ध्वन्यालोक–३.१ कारिका के अन्तर्गत**

अरे बनिये! हमारे यहाँ हाथी के दाँत और बाघ के चमड़े कहाँ, जब तक चञ्चल लटों से युक्त मुखवाली पतोहू घर में चमक–चमक कर चलती है। इसी भाव को निम्न गाथा में भी कहा गया है–

**करिणी–वैधव्य–करो मम पुत्र एक–काण्ड–विनिपाती।**

**हत–स्नुषया तथा कृतो यथा काण्ड–करण्डकं वहति॥**

अर्थात् हथिनी को विधवा बना देने वाला मेरा पुत्र हाथी को एक बाण से गिराने में समर्थ है। किन्तु इस मरी पतोहू ने उसे ऐसा बना डाला जिससे वह बाणों का तर्कस लिए फिरता रहता है।

यह किसी व्यक्ति के हाथी दाँत के लिए पूछने पर व्याध ने उत्तर दिया है। इसकी व्यञ्जना यह है कि मेरा पुत्र बहु से सम्भोग के कारण इतना क्षीण हो गया है और बहू के हाव–भाव कटाक्षों में ऐसा फँसा रहता है कि न तो उसमें इतनी शक्ति ही रह गई है कि वह मत्त हाथियों को मार सके और न उसकी प्रवृत्ति उस ओर है। वह बाणों को ढो रहा है, किन्तु उनका कुछ उपयोग नहीं है। अतः हमारे घर में हाथी दाँत कहाँ से आये? इसी आशय को लेकर ऊपर वाली गाथा लिखी गई है। भाव समान है किन्तु **करिणीवैधव्य..** में **'हतस्नुषया तथाकृतः'** यह कहकर व्यङ्ग्यार्थ को वाच्य बना दिया गया है। जबकि **'वाणिजि हस्तिदन्ता'** इत्यादि गाथा में **'यावल्लुलितालकमुखी'** इत्यादि शब्दों के द्वारा उस अर्थ को सर्वथा व्यङ्ग्य ही रखा गया है। इस पुराने अर्थ के होते हुए भी **'वाणिज..'** इत्यादि गाथा का अर्थ सर्वथा नवीन तथा पुराने पद्य के द्वारा अगतार्थ है। यहाँ कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति वस्तु से वस्तुध्वनि का आश्रय लेकर अर्थ में नवीनता का सञ्चार किया गया है।

इस प्रकार व्यङ्ग्य की दृष्टि से ध्वनि के विभिन्न भेदों का आश्रय लेने से पुराना अर्थ किस प्रकार नवीन हो जाता है इसका दिग्दर्शन कुछ उदाहरणों द्वारा करा दिया गया है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि केवल व्यङ्ग्यार्थ की दृष्टि से ही ध्वनिभेद अनन्तता के प्रयोजक नहीं होते अपितु व्यञ्जकभेद भी अनन्तता के प्रयोजक होते हैं। एक भाव को एक कवि शब्द इत्यादि जिन उपकरणों का आश्रय लेकर अभिव्यक्त करता है। उसी भाव को अभिव्यक्त करने के लिए दूसरा कवि दूसरे शब्दों का प्रयोग किया करता है। इस प्रकार एक भाव के अनन्त व्यञ्जक हो सकते हैं। इस प्रकार यह ध्वनि विस्तार काव्यगत भावों को अनन्तता प्रदान कर देता है, यह ध्वनि का सबसे बड़ा प्रयोजन है।

**॥ मूलपाठः ॥**

एवं ध्वनिं स–प्रपञ्चं विप्रतिपत्ति–निरासार्थं व्युत्पाद्य तद्–व्युत्पादने प्रयोजनान्तरमुच्यते–

**ध्वनेर्यः सगुणी–भूत–व्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शितः।**

**अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभा–गुणः।। ध्वन्यालोकः– ४.१॥**

य एष ध्वनेर्गुणी–भूत–व्यङ्ग्यस्य च मार्गः प्रकाशितस्तस्य फलान्तरं कवि–प्रतिभानन्त्यम्।

कथमिति चेत्–

**अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता।**

**वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि॥**

ध्वन्यालोकः–४.२॥

अतो ध्वनेरुक्त–प्रभेद–मध्यादन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता सती वाणी पुरातन–कवि–निबद्धार्थ–संस्पर्शवत्यपि नवत्वमायाति। तथा ह्यविवक्षित–वाच्यस्य ध्वनेः प्रकार–द्वय–समाश्रयणेन नवत्वं पूर्वार्थानुगमेऽपि यथा–

**स्मितं किञ्चिन्मुग्धं तरल–मधुरो दृष्टि–विभवः**
**परिस्पन्दो वाचामभिनव–विलासोर्मि–सरसः।**
**गतानामारम्भः किसलयित–लीला–परिमलः**
**स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव हि न रम्यं मृगदृशः॥**

इत्यस्य,

**स–विभ्रम–स्मितोद्भेदा लोलाक्ष्यः प्रस्खलद्–गिरः।**
**नितम्बालस–गामिन्यः कामिन्यः कस्य न प्रियाः॥**

इत्येवमादिषु श्लोकेषु सत्स्वपि तिरस्कृत–वाच्य–ध्वनि–समाश्रयेणापूर्वत्वमेव प्रतिभासते। तथा–

**यः प्रथमः प्रथमः स तु तथाहि हत–हस्ति–बहल–पललाशी।**
**श्वापद–गणेषु सिंहः सिंहः केनाधरी–क्रियते॥**

इत्यस्य,

**स्वतेजः–क्रीतमहिमा केनान्येनातिशय्यते।**
**महद्भिरपि मातङ्गैः सिंहः किमभिभूयते॥**

इत्येवमादिषु श्लोकेषु सत्स्वप्यर्थान्तर–सङ्क्रमित–वाच्य–ध्वनि–समाश्रयेण नवत्वम्। यथा–

**निद्रा–कैतविनः प्रियस्य वदने विन्यस्य वक्त्रं वधूर्**
**बोध–त्रास–निरुद्ध–चुम्बन–रसाप्याभोग–लोलं स्थिता।**
**वैलक्ष्याद्विमुखीभवेदिति पुनस्तस्याप्यनारम्भिणः**
**साकाङ्क्ष–प्रतिपत्ति नाम हृदयं यातं तु पारं रतेः॥**

इत्यादेः श्लोकस्य

**शून्यं वास–गृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै–**
**र्निद्रा–व्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।**
**विस्रब्धं परिचुम्ब्य जात–पुलकामालोक्य गण्डस्थलीं**
**लज्जानम्र–मुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता॥**

इत्यादिषु श्लोकेषु सत्स्वपि नवत्वम्।यथा वा–"तरङ्गभ्रूभङ्गा" इत्यादिश्लोकस्य "नानाभङ्गिभ्रमद्भ्रूः" इत्यादिश्लोकापेक्षयान्यत्वम्। ध्वा– ४.२ ॥

**युक्त्यानयानुसर्तव्यो रसादिर्बहुविस्तरः।**

**मिथोऽप्यनन्ततां प्राप्तः काव्य–मार्गो यदाश्रयात् ॥ध्वन्यालोकः– ४.३॥**

बहु–विस्तारोऽयं रस–भाव–तदाभास–तत्प्रशमन–लक्षणो मार्गो यथास्वं विभावानुभाव–प्रभेद–कलनया यथोक्तं प्राक्। स सर्व एवानया युक्त्यानुसर्तव्यः। यस्य रसादेराश्रयादयं काव्यमार्गः पुरातनैः कविभिः सहस्रसंख्यैरसंख्यैर्वा बहुप्रकारं क्षुण्णत्वान्मितोऽप्यनन्ततामेति। रस–भावादीनां हि प्रत्येकं विभावानुभाव–व्यभिचारि–समाश्रयादपरिमितत्वम्। तेषां चैकैक–प्रभेदापेक्षयापि तावज्जगद्–वृत्तमुपनिबध्यमानं सुकविभिस्तदिच्छा–वशादन्यथा स्थितमप्यन्यथैव विवर्तते। प्रतिपादितं चैतच्चित्र–विचारावसरे। गाथा चात्र कृतैव महा–कविना–

**अतथा–स्थितानपि तथा–संस्थितानिव हृदये या निवेशयति।**

**अर्थ–विशेषान्सा जयति विकटदृकविगोचरा वाणी॥**

इति छाया

तदित्थं रस–भावाद्याश्रयेण काव्यार्थानामानन्त्यं सुप्रतिपादितम्। एतदेवोपपादयितुमुच्यते–

**दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रस–परिग्रहात् ।**
**सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥**

ध्वन्यालोकः– ४.४॥

तथा हि विवक्षितान्यपरवाच्यस्यैव शब्द–शक्त्युद्भवानुरणन–रूप–व्यङ्ग्य–प्रकार–समाश्रयेण नवत्वम्। यथा–"धरणी–धारणायाधुना त्वं शेषः" इत्यादेः।

**शेषो हिम–गिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः।**

**यदलङ्घित–मर्यादाश्चलन्तीं बिभ्रते भुवम्॥**

इत्यादिषु सत्स्वपि।तस्यैवार्थ–शक्त्युद्भवानुरणन–रूप–व्यङ्ग्य–समाश्रयेण नवत्वम्। यथा– "एवं–वादिनि देवर्षौ" इत्यादि श्लोकस्य।

**कृते वर–कथालापे कुमार्यः पुलकोद्गमैः।**

**सूचयन्ति स्पृहामन्तर्लज्जयावनताननाः॥**

इत्यादिषु सत्सु अर्थ–शक्त्युद्भवानुरणन–रूप–व्यङ्ग्यस्य कवि–प्रौढोक्ति–निर्मित–शरीरत्वेन नवत्वम्। यथा– "सज्जयति सुरभिमासो" इत्यादेः।

**सुरभिसमये प्रवृत्ते सहसा प्रादुर्भवन्ति रमणीयाः।**

**रागवतामुत्कलिकाः सहैव सहकार–कलिकाभिः॥**

इत्यादिषु सत्स्वप्यपूर्वत्वमेव।

अर्थ–शक्त्युद्भवानुरणन–रूप–व्यङ्ग्यस्य कवि–निबद्ध–वक्तृ–प्रौढोक्ति–मात्र–निष्पन्न–शरीरत्वेन नवत्वम्। यथा "वाणिज्य हस्तिदन्ताः" इत्यादि–गाथार्थस्य।

**करिणी–वैधव्य–करो मम पुत्र एककाण्डविनिपाती।**

**हत–स्नुषया तथा कृतो यथा काण्डकरण्डकं वहति॥**

इति छाया

एवमादिष्वर्थेषु सत्स्वप्यनालीढतैव।

## 11.3 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आचार्य आनन्दवर्धन ध्वनि के पूर्व में बताये गए प्रयोजनों पर विमर्श करते हैं। पूर्व में ध्वनि का प्रयोजन इन्होंने **सहृदयमनःप्रीति** को बतलाया था। तथा बाद में ध्वनि का प्रयोजन बतलाया **'सत्काव्यं कर्तुं वा ज्ञातुं वा'** अर्थात् सुन्दर काव्य की रचना तथा उसका ज्ञान। सुन्दर काव्य की रचना के लिए रचना में ध्वनि का सन्निवेश अत्यन्त आवश्यक ही ध्वनि का विस्तृत विवेचन द्वितीय, तृतीय उद्योतों में की जा चुकी है। इसलिए चतुर्थ उद्योत में ध्वनि के प्रयोजन पर एक बार फिर चर्चा करते हैं। आनन्दवर्धन लिखते है कि ध्वनि के जितने भेदोपभेद हैं उनमें किसी एक का भी आश्रय लेने से कविता में नवीनता आ जाती है। और फिर एक एक करके ध्वनि के जो भेद किये गयें है उनके आश्रय से किस प्रकार नवीनता आती है उसका सोदाहरण विवेचन करते हैं। ध्वनि के प्रारम्भ में दो भेद किये जाते हैं– १. अविवक्षितवाच्यध्वनि २. विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि।अविवक्षितवाच्यध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि ये दो भेद होते हैं। उसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के भी दो भेद होते हैं असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि। इस प्रकार इन प्रथम चार भेदों का दो दो उदाहरणों के माध्यम से सिद्ध किया है कि भाव समान होने पर भी ध्वनि के इन भेदों के आश्रय से किस प्रकार कविता में चमत्कार आ जाता है। और कविता में चमत्कार के साथ ही साथ कवि की बुद्धि में भी आनन्त्य आता है।

इसके बाद आनन्दवर्धन ने संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्य, अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्य, एवं उभयशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्य में शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्य के वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि के प्रयोग से वाणी में किस प्रकार नवीनता आती है इसे उदाहरण के द्वार प्रदर्शित किया है। उसके बाद अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्य के स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्ति, और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति इन तीनों के वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य, के आश्रयण से किस प्रकार काव्य में नवीनता आती है का उसका प्रदर्शन करते हैं। और इस प्रकार कवि के काव्य में और उसकी प्रतिभा में किस प्रकार आनन्त्य आता है इसका निरूपण किया।

## 11.4 शब्दावली

**विप्रतिपत्ति**– विरोध, असहमति

**आनन्त्यम्**– नानात्व, बहुविध, अनेक प्रकार का

**प्रतिभा**– कवित्व के कारणभूत संस्कार विशेष, कवि के अन्दर काव्य करने की शक्ति, काव्यजनन योग्यता,

**रसादिः**— रस आदि ८ प्रकार, अर्थात् रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशान्ति, भावशबलता

**मधुमासः**—बसन्त ऋतु, शीत एवं ग्रीष्म ऋतु के मध्य का काल, जब न अधिक ठंड पड़ती है और न ही गर्मी पड़ती है।

**निर्वण्य**— ध्यान पूर्वक देखकर, भलीभाँति निहार कर

**वैलक्ष्यात्**— लज्जा, सङ्कोच, उत्कण्ठा की शान्ति और लज्जा का उदय।

**सहृदय**— काव्य के अनुशीलन और अभ्यास से जिसका चित्त निर्मल हो गया है और जो वर्णनीय विषय में तन्मय होने की योग्यता रखता है।

**उपजीव्य**— वह आदर्श काव्य, जिसको आधार बनाकर परवर्ती काव्य लिखे जाते हैं।

**समानाधिकरण**— जिसका आश्रय समान हो।

**व्यधिकरण**— जिसका आश्रय समान न हो।

## 11.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. **ध्वन्यालोकः** आनन्दवर्धनाचार्य विरचित, व्याख्याकार–आचार्य जगन्नाथपाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
2. **ध्वन्यालोक** व्याख्याकार– आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी
3. **ध्वन्यालोक** लीला संस्कृत हिन्दी व्याख्या सहित, आचार्य लोकमणि दहाल, भारतीयविद्याप्रकाशन, दिल्ली
4. **संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास**पी.वी.काणे, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली
5. **ध्वन्यालोक** व्याख्याकार के.कृष्णमूर्ति, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली
6. **ध्वन्यालोक** व्याख्याकार–डॉ रामसागर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली
7. **काव्यशास्त्रविमर्श** डॉ. कृष्णकुमार, मयङ्क प्रकाशन, कनखल, हरिद्वार
8. **ध्वन्यालोक** व्याख्याकार– डॉ बालप्रिया टीका समन्वित, काशी संस्कृत सीरिज, वाराणसी
9. **ध्वनिसिद्धान्त** डॉ, राममूर्तिशर्मा, अजन्ता पब्लिकेशन्स, जवाहरनगर, नई दिल्ली
10. **ध्वन्यालोकविमर्श** प्रो. माणिकगोविन्द चतुर्वेदी, अक्षरप्रकाशन, विश्वासनगर दिल्ली
11. **आनन्दवर्धन** लेखक– प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी, मध्यप्रदेश, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

## 11.6 बोध प्रश्न

1. ध्वनि के क्या प्रयोजन हैं, विस्तार से लिखिए?
2. कवि के काव्य में आनन्त्य किस प्रकार आता है?
3. अविवक्षितवाच्यध्वनि के आश्रय से वाणी में किस प्रकार नवीनता आती हैं?
4. ध्वनि के प्रारम्भिक अठारह भेद की विवेचना कीजिए?
5. संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के आश्रय से वाणी में नवीनता कैसे आती है? उदाहरण देकर सिद्ध कीजिए।
6. असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के आश्रय से वाणी में नवीनता कैसे आती है? उदाहरण देकर सिद्ध कीजिए।

# इकाई १२ चतुर्थ उद्योत– ध्वन्यालोक कारिका–07–11

**इकाई की रूपरेखा**



## १२.० उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप–

- रसादि–ध्वनि के महत्त्व को जान पायेंगे।
- रामायण का अङ्गीरस क्या है? और क्यों है? इसे तार्किक ढंग से समझ पायेंगे।
- महाभारत का प्रधान रस शान्त क्यों है? जबकि उसमें कौरव–पाण्डव का युद्ध वर्णित है।
- न केवल व्यङ्ग्यार्थ से ही अर्थ में आनन्त्य आता है प्रत्युत वाच्यार्थ की अपेक्षा से भी अर्थ में आनन्त्य आता है इसे जान पायेंगे।
- अवस्था, देश, काल, आदि के प्रभाव से वाच्यार्थ द्वारा अर्थ का आनन्त्य सम्भव है इसे उदाहरण के माध्यम से जान पायेंगे।

## १२.1 प्रस्तावना

प्रकृत इकाई में ध्वनि के प्रमुख जो तीन भेद किये जाते हैं– रसध्वनि, वस्तुध्वनि, और अलङ्कारध्वनि इनमें रसध्वनि के प्रयोग पर कवि को विशेष रूप से सावधान किया गया है। क्योंकि रसध्वनि के बिना कोई भी काव्य सहृदयजनग्राह्य नहीं होता। संस्कृत के दो प्रसिद्ध महाकाव्य रामायण और महाभारत के उदाहरणों से काव्य में रसप्रयोग के औचित्य का प्रतिपादन करेंगे। जैसा कि हम जानते हैं रामायण लेखन का उत्स व्याध द्वारा क्रौञ्चयुगल में से क्रौञ्च वध के अनन्तर क्रौञ्ची के विलाप से महर्षि वाल्मीकि के हृदय में उत्पन्न शोक था। जिसे उनसे इस रूप में अभिव्यक्त हो गया–

**मा निषाद! प्रतिष्ठास्त्वमगमः शाश्वतीः समाः।**

**यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥**

और इसकी परिणति फिर रामायण जैसा महत्त्वपूर्ण महाकाव्य का प्रकटन था।

इस प्रकार जिस महाकाव्य का उत्स ही **'शोकः श्लोकत्वमागतः'** हो तो फिर उसका प्रधान रस तो करुण होना ही था। वाल्मीकि ने सम्पूर्ण रामायण में करुण रस का जिस प्रकार सन्निवेश किया है वह अद्भुत है। चाहे वो निःसंतान दशरथ का संतति के लिए विलाप हो या फिर श्रवण कुमार का प्रसङ्ग हो। राम का वनगमन हो या फिर सीता का अपहरण, और अन्त में सीता का आत्यन्तिक परित्याग। वाल्मीकि हर जगह सहृदय क्या सामान्य जन को करुणा से द्रवित करते रहते हैं। इसलिए भले ही लोग **'कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते'** कहकर करुण रस के प्रयोग में भवभूति को उच्च स्थान प्रदान करते हैं किन्तु वाल्मीकि कहीं से भी करुण रस के प्रयोग में उनसे कम नजर नहीं आते हैं।

उसी प्रकार महर्षि व्यास भी महाभारतकालीन परिस्थिति के साक्षात् द्रष्टा थे। कौरवों के छल छद्म प्रपञ्च से और पाण्डवों के दुर्भाग्य से व्यथित थे। बड़े से बड़े महापुरुषों और महाबली योद्धाओं की दुर्गति को देखकर उनके वैरागी चित्त में संसार को लेकर और भी वैराग्यभाव उत्पन्न होता है और फिर वो महाभारत की रचना में प्रवृत्त होते हैं। स्पष्ट है कि इस पृष्ठभूमि में शृङ्गारिक या फिर वीर–रस की रचना असम्भव है। ऐसी परिस्थिति में कवि जो कुछ भी रचेगा उसका बाह्य स्वरूप चाहें जो हो पर मौलिक भाव वैराग्य ही होगा। और वैराग्यमूलक रस शान्त होता है। इसलिए महाभारत का प्रधान रस शान्त ही होना चाहिए। आन्दवर्धन ने बहुत उचित लिखा है कि कवि जिस प्रवृत्ति का होगा या जिस पृष्ठभूमि का होगा उसका काव्य भी तदनुरूप ही होगा–

**शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रस–मयं जगत्।**

**स एव वीत–रागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्॥**

**ध्वन्यालोक–३.४२ के अन्तर्गत**

इसलिए काव्य में नवीनता का सञ्चार करने वाले ध्वनि के नाना प्रकार के भेदों के रहते हुए भी रस के आश्रय से वाणी में अपूर्व नवीनता आती है। इसलिए उसके प्रयोग में कवि को हमेशा सावधान रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त ध्वनि के प्रयोग अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ के सन्निवेश से सामान्य अर्थ में आनन्त्य की सम्भावना तो बनती ही है। वाच्यार्थ के भी अवस्था देश काल आदि के प्रभाव से वाणी में नवीनता या आनन्त्य आ जाया करता है। आनन्दवर्धन ने अवस्था के प्रभाव से आनन्त्य का उदाहरण कुमारसम्भव को दिया है। कुमारसम्भव में कालिदास ने पार्वती का ही अलग–अलग प्रसङ्ग में भिन्न–भिन्न वर्णन किया है पर किसी में कोई समानता नहीं है और नहीं तो उसमें अनन्तता के साथ नवीनता आ गई है।

पुरातन कवियों द्वारा प्रयुक्त विषय भी प्रतिभाशाली कवियों द्वारा नवीनता के साथ उपस्थापित किया जा सकता है। इसके कई उदाहरण हमारे सामने हैं जैसे बाल्मीकि रामायण एवं पद्म पुराण को आधार बनाकर लिखा गया कालिदास का रघुवंशम्, और तुलसी दास का रामचरितमानस उसी प्रकार महाभारत के कर्ण के चरित को आधार बनाकर हिन्दी में लिखा गया 'रामधारी सिंह दिनकर' की रश्मिरथी। इसलिए कहते हैं कि हजारों कवियों द्वारा यत्नपूर्वक वर्णन किये जाने पर भी इस जगत की प्रवृत्ति जैसे

क्षीण नहीं होती ठीक उसी प्रकार प्रतिभावान् कवि के लिए वर्णित वस्तु कोई मायने नहीं रखता, वह उसमें नवीनता और अनन्तता का प्रतिपादन कर ही लेता है।

## १२.२ वर्ण्यविषय– रस–ध्वनि के प्रयोग, रामायण एवं महाभारत में अङ्गीरस का विमर्श तथा अवस्था, देश, और काल के प्रभाव से वाच्यार्थ में आनन्त्य।

पूर्व में यह प्रतिपादित किया गया है कि तीनों ध्वनियों में रसादि–ध्वनि ही प्रधान है तथा अन्य ध्वनियाँ इसकी अनुगामिनी होकर ही काव्य को चमत्कृत कर पाती है। इसी बात पर बल देने के लिए निम्न कारिका की रचना की गई है–

**व्यङ्ग्य–व्यञ्जक–भावेऽस्मिन्विविधे सम्भवत्यपि।**

**रसादि–मय एकस्मिन्कविः स्यादवधानवान्॥**

**ध्वन्यालोकः–४.५**

ध्वनि के प्रयोजक व्यङ्ग्य–व्यञ्जक के अनेक प्रकार सम्भव हैं फिर भी यदि कवि उत्तम काव्य की रचना करने का उत्सुक हो तो उसे ऐसे व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव में प्रयत्नपूर्वक ध्यान देना चाहिए जिसका स्वरूप रसादिमय हो। यदि कवि रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावशबलता इत्यादि रसध्वनि के व्यङ्ग्य भेदों का ध्यान रखता है और उनके व्यञ्जक वर्ण, पद, वाक्य, रचना प्रबन्ध का भी विशेष ध्यान रखता है तो उसका काव्य अद्वितीय बन जाता है।

भाव यह है कि कवि को वस्तुयोजना, अलङ्कारयोजना इत्यादि काव्य से सम्बद्ध सभी तत्वों के प्रयोग पर सावधान रहना चाहिए किन्तु विशेष रूप से उसे ऐसे शब्दों और अर्थों के प्रयोग करते हुए ज्यादा सावधान रहना चाहिए जिससे रस व्याहत न होने पाये। यदि कवि रसोपघातक शब्दार्थ का प्रयोग करेगा तो वह बड़ा दोष सिद्ध होगा। साथ ही उसे यह भी ध्यान रखना होगा कि वह जिस रस की व्यञ्जना कर रहा है वह लौकिक दृष्टि से भी उचित हो। ऐसा करने से कवि का काव्य अपूर्वता को प्राप्त कर लेता है। रस प्रयोग में कवि यदि सावधान है तो फिर एक ही बात को बारम्बार कहने पर भी उसमें पुनरावृत्ति की प्रतीति नहीं होगी अपितु उसमें नयापन होगा। रामायण और महाभारत में कई बार युद्ध का वर्णन हुआ है फिर भी नया जैसा लगता है। उसका यही कारण है कि युद्ध का वर्णन तो एक जैसा है किन्तु उसके अभिव्यञ्जक और अभिव्यङ्ग्य में भेद होने से बिल्कुल नये जैसे लगते हैं। प्रबन्धकाव्यों अर्थात् महाकाव्यों में कविजन प्रकरण के अनुसार नाना प्रकार के रसों का प्रयोग करते हैं। कहीं वीर तो कहीं हास्य, कहीं शान्त कहीं शृङ्गार। उन सभी रसों में महाकाव्य का प्रधान रस कौन सा है? इसका परीक्षण करना होता है। क्योंकि प्रधान रस को छोड़कर अन्य रस उसके पोषक की भूमिका निभाते हैं। इस प्रकार महाकाव्य का प्रधान रस अङ्गी रस और पोषक सभी रस अङ्ग रस के नाम से जाने जाते हैं। प्रबन्धकाव्य का अध्ययन करते समय इस बात का हमें अनुसन्धान जरूर करना चाहिए कि उस प्रबन्ध का अङ्गी रस कौन है? और कौन कौन से अङ्ग रस का प्रयोग कवि ने किया है। किसी महाकाव्य का अङ्गी रस वही होता है जो अन्य रसों से पुष्ट किया जाय, जिसमें विशिष्ट चमत्कार करने का सामर्थ्य हो और विशेष अर्थ का प्रतिपादन का सामर्थ्य हो।

आनन्दवर्धन ने महाकाव्यों के अङ्गीरस का परीक्षण करने के उपाय बतलाये हैं, और स्वयं रामायण और महाभारत के अङ्गीरस का परीक्षण कर एक आदर्श प्रस्तुत किया है।

अङ्गी रस की परीक्षा दो प्रकार से की जा सकती है—

१. कवि स्वयं अङ्गी रस का संकेत दे देता है।

२. कभी कभी उपक्रम में अङ्गीरस का उल्लेख कर दिया जाता है, और उपसंहार में उसी रस का निर्वाह किया जाता है, अन्य रस उसके निर्वाह के लिए आते हैं और उस रस का पोषण करते हैं।

ये दो ऐसे उपाय हैं जिनसे अङ्गी रस की परीक्षा की जा सकती है। सबसे पहले रामायण के अङ्गीरस का परीक्षण करते हुए आनन्दवर्धन ने लिखा है—**"रामायणे हि करुणो रसः स्वयम् आदि—कविना सूत्रितः "शोकः श्लोकत्वमागतः" इत्येवं—वादिना। निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्त—वियोग—पर्यन्तमेव स्व—प्रबन्धमुपरचयता।"** वाल्मीकि ने रामायण के उपक्रम में लिखा है **'क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थःशोकः श्लोकत्वमागतः।** अर्थात् कौञ्चयुगल के वियोग से उत्पन्न जो शोक था वही श्लोक रूप में परिणत हो गया। यहाँ क्रौञ्च का वियोग आत्यन्तिक था। इसलिए यह शोक करुण रस का स्थायी भाव है। मुनि के इस संकेत से व्यक्त होता है कि रामायण का अङ्गी रस करुण है। वाल्मीकि ने रामायण की रचना वहाँ तक की है। जहाँ राम और सीता का सदा के लिए वियोग हो जाता है। उनके मिलन की सम्भावना नहीं रहती। और इस प्रकार करुण रस में ही रामायण की पूर्णता होती है। इस प्रकार कथानक के मुख और निर्वहण दोनों सन्धियों में करुणरस विद्यमान है और मध्य में जो वीर आदि रस आये वे करुण रस के ही पोषक बने हुए हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि रामायण का अङ्गीरस करुण है। यहाँ राम के लिए सीतावियोगजन्यदुःख विप्रलम्भ श्रृङ्गार का विषय है। यह तर्क नहीं करना चाहिए क्योंकि सीता का वियोग आत्यन्तिक हो जाता है। और आत्यन्तिक वियोग करुण रस का विषय बनता है।

महाभारत के अङ्गीरस विचार करते हुए आनन्दवर्धन ने लिखा है— **"महाभारतेऽपि शास्त्र—काव्य—रूप—च्छायान्वयिनि वृष्णि—पाण्डव—विरसावसान—वैमनस्य—दायिनीं समाप्तिं उपनिबध्नता महा—मुनिना वैराग्य—जनन—तात्पर्यं प्राधान्येन स्व—प्रबन्धस्य दर्शयता मोक्ष—लक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया विवक्षा—विषयत्वेन सूचितः"**

महाभारत एक ऐसा ग्रन्थ है, जो शास्त्र और काव्य दोनों की छाया से समन्वित है। एक ओर जहाँ पातञ्जल जैसे शास्त्रों की छाया दृष्टिगत होती है वहीं रामायण जैसे काव्यों के स्वरूप का भी दिग्दर्शन होता है। इस ग्रन्थ की परिसमाप्ति सभी के विनाश से होता है। वृष्णि वंशवाले संख्या में इतने अधिक और महान् है किन्तु अन्त में शाप के वशीभूत होकर परस्पर लड़कर सभी विनष्ट हो जाते हैं। उनका भरा पुरा ऐश्वर्य समाप्त हो जाता है। पाण्डव अपनी वीरता में किसी को भी अपने सामने नहीं आने देते। महाभारत जैसे महायुद्ध में अभूतपूर्व पराक्रम दिखलाकर सभी शत्रुओं का संहार कर एक समृद्ध राज्य के अधिकारी बन जाते हैं। किन्तु अन्त में उन लोगों को भी हिमालय की महायात्रा में जाना पड़ता है, और अनेक विपत्तियों को सहते हुए अपनी लीला को समाप्त करते हैं। उसी प्रकार युगपुरुष भगवान् कृष्ण भी जो योगेश्वर रूप

के कारण सर्वत्र सम्मान के पात्र होते हैं वे भी अन्त में एक साधारण वहेलिए से मारे जाते हैं। सभी का अन्त कितना नीरस होता है। यही नीरसता का प्रतिपादन करके महर्षि व्यास ने महाभारत को समाप्त किया है। इतना दुखद उपसंहार के माध्यम से महामुनि व्यास यही सिद्ध करना चाहते हैं कि जब इतने महापुरुष और ऐश्वर्यशाली जनों का अन्त इतना दुखद हो सकता है तो फिर साधारण मनुष्य की बात ही क्या है। मानव कितना भी उत्कर्ष प्राप्त कर ले किन्तु अन्त नीरस और कष्टकर ही होता है। यह संसार क्षणभङ्गुर है यहाँ कुछ भी स्थाई नहीं है। अतः महामुनि का तात्पर्य लोगों में वैराग्य भाव उत्पन्न करना ही है। यदि काव्य रूप में इस महाकाव्य का परिशीलन किया जाय तो वैराग्यजनक सारी परिस्थितियाँ विभाव होकर तृष्णाक्षयजन्य सुख में पर्यवसित होंगी और सम्पूर्ण काव्य का अङ्गीरस शान्तरस ही सिद्ध होगा। यदि शास्त्र की दृष्टि से इसकी पर्यालोचना की जाय तो धर्म अर्थ और काम ये तीनों पुरुषार्थ गौण सिद्ध होंगे और मुख्य पुरुषार्थ मोक्ष ही सिद्ध होगा। तात्पर्य यह है कि भगवान् व्यास को महाभारत का अङ्गी रस शान्तरस और मुख्य पुरुषार्थ मोक्ष का प्रतिपादन करना ही अभीष्ट था।

महाभारत के अङ्गी रस के विषय में जो बाते कहीं गई उसका आंशिक विवरण महाभारत के विभिन्न व्याख्याताओं ने यद्यपि दिया है। किन्तु स्पष्ट रूप में यह किसी ने नहीं कहा कि शान्तरस ही महाभारत का अङ्गी रस है। किन्तु महाभारत के रचयिता लोकनाथ हैं। क्योंकि अवतारों के परिगणन में भगवान् व्यास का भी नामोल्लेख पाया जाता है, अतः भगवान् का अवतार होने के कारण वेदव्यास जी लोकनाथ हैं। दूसरी बात यह है कि उन्होंने महाभारत जैसा अत्यन्त उत्कृष्ट प्रबन्ध लिखकर सांसारिक व्यक्तियों की भावनाओं को नियन्त्रित कर सन्मार्ग में प्रवृत्त करने की चेष्टा की है। उनकी केवल एक यही कामना थी कि जैसे भी हो सके यह अज्ञानान्धकार में डूबा हुआ विश्व माया के जंजाल से बाहर निकल सके। इसी मन्तव्य की पूर्ति के लिए उन्होंने महाभारत की रचना की। अतः यह कहा जा सकता है कि उनका मन्तव्य मोक्ष को ही परम पुरुषार्थ कहना था और शान्तरस को ही वे प्रधान मानकर चले थे । केवल इतना ही नहीं, अपितु उन्होंने यह बात कही भी है–

**यथा यथा विपर्येति लोक–तन्त्रमसारवत्।**

**तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संशयः॥**

जैसे जैसे लोकतन्त्र अर्थात् धर्म, अर्थ, और काम सारहीन के समान विपरीत दिखता है वैसे वैसे इसमें विराग उत्पन्न होने लगता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। लोकतन्त्र में तन्त्र का अर्थ है प्रयत्नपूर्वक सम्पादन किये जानेवाले तत्त्व। और वे तत्त्व हैं धर्म, अर्थ और काम तथा उनके सम्पादन के लिए उपयुक्त साधन। ये सब लौकिक तत्त्व हैं, सांसारिक वस्तुयें हैं और सभी लोग इसे अर्जित करने का प्रयत्न किया करते हैं तथा सभी लोगों के लिये ये वस्तुयें अभिमत होती हैं। संसार इनके उपार्जन तथा संरक्षण के लिये अनेक प्रकारों को अपनाया करता है। किन्तु अन्त में वे समस्त प्रकार और उनके फल धर्म अर्थ और काम सभी कुछ असार सिद्ध हो जाता है। जैसे इन्द्रजाल में दिखलाई गई वस्तुयें मिथ्या होती हैं उसी प्रकार संसार के सभी पदार्थ मिथ्या ही हैं। केवल इतना ही नहीं अपितु मानव आनन्द की कामना लेकर जिन वस्तुओं की ओर दौड़ता है वे भी अन्त में विपरीत फलदायक होकर दुःखकारक हो जाती हैं । अतः उनके स्वरूप की चिन्ता से क्या लाभ? जैसे जैसे ये भावनायें जागृत होती हैं और

अनुभव मनुष्य के सामने वास्तविकता को प्रस्तुत करता जाता है वैसे ही वैसे विराग उत्पन्न होता जाता है।

इस प्रकार के बहुत से वाक्य महाभारत में आये हैं। इन सबसे यही सिद्ध होता है कि महाभारत में जितने भी रस आये हैं चाहे वे वीर हो चाहे करुण वे सब शान्तरस के ही पोषक हैं और शान्तरस के ही अङ्ग है, अङ्गी शान्तरस ही है। इसी प्रकार धर्म, अर्थ इत्यादि जितने भी पुरुषार्थ प्रतिपादित किये गये हैं, वे सब मोक्षरूप पुरुषार्थ के ही अङ्ग हैं और उसी के पोषक हैं, अङ्गी मोक्ष नामक पुरुषार्थ ही है। इस प्रकार इन कथनों के आधार पर स्पष्ट रूप में सिद्ध हो जाता है कि मुनि की इच्छा शान्तरस और मोक्ष का प्रतिपादन करने की ही है और यही महाभारत का तात्पर्य है ।

यद्यपि बहुत से विचारक महाभारत में कई दूसरे अङ्गी रसों का प्रतिपादन करते हैं। वस्तुतः महाभारत में कई दूसरे रस भी पर्याप्त विस्तार के साथ आये हैं। कहीं शृङ्गार है, कहीं वीर किन्तु ये सब रस शान्तरस के ही पोषक है। किन्तु जो लोग महाभारत के वास्तविक अन्तस्तत्त्व को नहीं समझते अथवा उस ओर ध्यान नहीं देते वे कहने लगते हैं कि महाभारत में अन्य रसों की प्रधानता है। इसी प्रकार महाभारत में धर्म, अर्थ और काम का भी विस्तार देखकर वे लोग भ्रम में पड़ जाते हैं और यह नहीं समझ पाते कि ये सब धर्म अर्थ और काम वस्तुतः मोक्ष के ही साधन होकर आये हैं। इन लोगों की यही दशा है जैसे जो लोग सारभूत तत्त्व आत्मा को नहीं जान पाते और शरीर को ही अनेक कार्य करते हुये देखते हैं वे क्रियाकलाप में शरीर की ही प्रधानता बतलाने लगते हैं। इस प्रकार जिन लोगों का आग्रह सांसारिक वस्तुओं का उपभोग करना है और जिनमें लोकवासनायें आविष्ट हो चुकी हैं, वे अङ्गभूत रस को ही अंगी मान बैठते हैं। यहाँ आनन्दवर्धन ने एक प्रश्न उठाया है कि–

**"ननु महाभारते यावान् विवक्षाविषयः सोऽनुक्रमण्यां सर्व एवानुक्रान्तो न चैतत्तत्र दृश्यते, प्रत्युत सर्वपुरुषार्धप्रबोधहेतुत्वं सर्वरसगर्भत्वं च महाभारतस्य तस्मिन्नुद्देशे स्वशब्दनिवेदितत्त्वेन प्रतीयते ?"**

महाभारत में कवि को जो कुछ कहना अभीष्ट है वह सब अनुक्रमणी में ही दिखला दिया गया है । अनुक्रमणी लिखने का मन्तव्य यही है कि रचना के सारे उद्देश्यों से पाठक परिचित हो जाय । जिन पुरुषार्थों की सिद्धि महाभारत का लक्ष्य है वे सब पुरुषार्थ वहीं दिखला दिये गये हैं। वहाँ वेद, योग, विज्ञान, धर्म अर्थ, काम, विभिन्न शास्त्र, लोकयात्रा विधान, इतिहास, विभिन्न श्रुतियाँ इत्यादि ही उद्देश्य के रूप में गिनाये गये हैं। वहाँ यह लिखा ही नहीं कि मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है और ये सब प्रतिपादन उसी का अङ्ग हैं । महाभारत के देखने से यही अवगत होता है कि महाभारत का उद्देश्य सभी पुरुषार्थों का प्रतिपादन करना तथा सभी रसों का समावेश करना है। जो बात कवि ने स्पष्ट शब्दों में स्वयं कही है वही मानी जानी चाहिये। फिर मोक्ष को परम पुरुषार्थ और शान्त रस को अङ्गी रस क्यों माना जाय ?

इसके उत्तर में लिखते हैं–

**"सत्यं शान्तस्यैव रसस्याङ्गित्वं महाभारते मोक्षस्य च सर्वपुरुषार्थेभ्यः प्राधान्यमित्येतन्न स्वशब्दाभिधेयत्वेनानुक्रमण्यां दर्शितम्, दर्शितं तु व्यङ्ग्यत्वेन–"**

यह तो सच ही है कि महाभारत की अनुक्रमणी में ऐसा कोई प्रकरण या श्लोक नहीं है कि शान्तरस तथा मोक्ष को अङ्गी सिद्ध किया जा सके किन्तु व्यञ्जना के आधार पर

शान्तरस को अङ्गी सिद्ध किया जा सकता है। अनुक्रमणी के निम्नलिखित श्लोक ध्यान देने योग्य हैं–

**भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः ।**

**स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च ॥**

**शाश्वतं परमं ब्रह्म ध्रुवं ज्योतिः सनातनम् ।**

**यस्य दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति मनीषिणः॥**

इसमें सनातन वासुदेव का कीर्तन किया गया है, वे निस्संदेह सत्य हैं, ऋत हैं, पवित्र हैं, पुण्य हैं, शाश्वत परब्रह्म हैं, सनातन अटल प्रकाश हैं जिसके दिव्य कर्मों का मनीषी गण वर्णन करते हैं। सनातन का अर्थ है सदा रहनेवाले, आदि मध्यान्त रहित और भगवान् का अर्थ है परम ऐश्वर्यशाली जिनमें अचिन्त्य तथा अद्भुत शक्ति विद्यमान है। बाह्य तौर पर यदि देखा जाय तो ज्ञात होगा कि महाभारत का प्रधान प्रतिपाद्य वासुदेव कृष्ण का चरित्र नहीं अपितु पाण्डवचरित्र है। किन्तु उपक्रम में कहा गया है कि इस महाग्रन्थ में भगवान् वासुदेव का कीर्तन है। इससे सिद्ध होता है कि पाण्डवादिकों के जिस चरित्र को विस्तार दिया गया है वह भगवत्कीर्तन का ही एक अङ्ग है। इससे व्यञ्जना निकलती है कि पाण्डवादिकों का जो चरित्र महाभारत में आया है उस सबका अवसान विरसता तथा नाश में ही होता है । अतः विश्व का जितना भी प्रपञ्च है वह सब अज्ञान का ही विलास है । इस अविद्या–विलास को सत्य मानकर जो भी प्रवृत्त होता है। वह कितना ही महान् क्यों न हो पाण्डवों के समान अन्त में विरसता में ही समाप्त हो जाता है । इस विश्व का वास्तविक वासुदेव ही हैं और उन्हीं का कीर्तन इस ग्रन्थ में प्रतिपाद्य है ।

अनुक्रमणी में जो अगला श्लोक है 'स हि सत्यम्' वह सर्वथा वाच्य है और इसीलिये प्रकट है। अतएव उसमें सौन्दर्य नहीं है। किन्तु उसका यह शान्तरस की अङ्गीरूपता और मोक्ष के परमपुरुषार्थता का अर्थ निगूढ रूप में व्यक्त किया गया है, अतः उसमें रमणीयता आ गई है। आगे महाभारत की समाप्ति हरिवंशवर्णन, तथा देवता–तीर्थ–तप आदि का अतिशय वर्ण और पाण्डवादि चरित का भी वर्णन भगवत्प्राप्ति का उपाय ही है। इसका निदर्शन निम्न शब्दों से किया है–

**"अयं च निगूढरमणीयोऽर्थो महाभारतावसाने हरिवंशवर्णनेन समाप्ति विदधता तेनैव कविवेधसा कृष्णद्वैपायनेन सम्यक्स्फुटीकृतः। अनेन चार्थेन संसारातीते तत्त्वान्तरे भक्त्यतिशयं प्रवर्तयता सकल एव सांसारिको व्यवहारः पूर्वपक्षीकृतो न्यक्षेण प्रकाशते। देवता–तीर्थ–तपः प्रभृतीनां च प्रभावातिशयवर्णनं तस्यैव परब्रह्मणः प्राप्त्युपायत्वेन तद्विभूतित्वेनैव देवताविशेषाणामन्येषां च। पाण्डवादिचरितवर्णनस्यापि वैराग्यजननतात्पर्याद्वैराग्यस्य च मोक्षमूलत्वान्मोक्षस्य च भगवत्प्राप्त्युपायत्वेन मुख्यतया गीतादिषु प्रदर्शितत्वात्परब्रह्मप्राप्त्युपायत्वमेव परम्परया।" ध्वन्यालोक–४.५**

आशय है– महाकवि वेदव्यास कवियों के विधाता स्वरूप है। इसीलिये रमणीयता–सम्पादन के उद्देश्य से ही उन्होंने इस अर्थ को प्रच्छन रूप में अभिव्यक्त किया है। किन्तु इसे उन्होंने सर्वथा प्रच्छन्न भी नहीं रक्खा है। महाभारत के परिशिष्ट के रूप में हरिवंश पुराण जोड़ा गया है, और उसी से महाभारत की समाप्ति की गई है। हरिवंश में कृष्ण की लोकोत्तर लीलायें वर्णित की गई हैं। भगवद्गुणानुवाद से ग्रन्थ

का समाप्त करना ही इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि ग्रन्थ का उद्देश्य भगवद्गुणानुवाद का प्रकथन करना ही है। हरिवंश पुराण का जो भी अर्थ है उस से पाठक की मनोवृत्ति लौकिक तत्त्व से उदासीन होकर परम सत्ता परमात्मा में ही लीन हो जाती है और उसी ओर पाठक की अतिशय भक्ति प्रवर्तित हो जाती है। इससे महाभारत के मुख्य भाग में जो का सांसारिक व्यवहार वर्णित किया गया है वह पूर्वपक्ष ही सिद्ध होता है ।

शास्त्रकारों की यह सामान्य परम्परा है कि वे पहले पूर्वपक्ष को विस्तारपूर्वक दिखलाते हैं और बाद में उसकी त्रुटियाँ दिखलाकर सिद्धान्त पक्ष की स्थापना कर देते हैं । महाभारत में भी ऐसा ही हुआ है। इसमें पहले धर्म, अर्थ और काम का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, यह सब पूर्वपक्ष है। फिर पाण्डवादिकों का करुण अन्त दिखलाकर उसके दोष बतलाये गये हैं, जिससे सांसारिक वैभव बहुत ही निम्नस्तर पर आ जाता है और उसके प्रति एक हेय बुद्धि तथा घृणा–बुद्धि उद्भूत हो जाती है। अन्त में सिद्धान्तपक्ष के रूप में भगवद्गुणानुवाद का उपादान किया गया है । यह सिद्धान्तपक्ष है किन्तु शास्त्रकार पूर्वपक्ष और सिद्धान्तपक्ष को केवल उपक्रम और उपसंहार में ही नहीं दिखलाता, वह मध्य में भी सिद्धान्त पक्ष की झलक देता चलता है। यही कारण है कि महाभारत के विस्तृत त्रिवर्गसाधन वर्णन के मध्य में कहीं देवता, तप, तीर्थ इत्यादि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। ये सभी उसी परब्रह्म परमात्मा के अंश से उत्पन्न है इसलिए इनका वर्णन भगवत्गुणानुकीर्तन ही है–

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।।
गीता–१०.४१
येऽप्यन्यदेवता भक्ताः यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।
गीता–९.२३

इतना ही नहीं महाभारत में जो मुख्य रुप से पाण्डवचरित का वर्णन किया गया है उसका तात्पर्य वैराग्य को उत्पन्न करना ही है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, वैराग्य मोक्ष का मूल है और मोक्ष भगवत्प्राप्ति का उपाय है ।

'भगवान् वासुदेवो हि कीर्त्यतेऽत्र सनातनः।' यहाँ वासुदेव इस नाम से यदुवंशी वसुदेव का मथुरा में जन्म लेने वाले पुत्र का ही ग्रहण नहीं होता अपितु 'वासुदेव' यह संज्ञा अति प्राचीन है, और उसके साथ लगा हुआ 'सनातन' शब्द से यह सिद्ध होता है कि वह आत्मरूप में समस्त जगत् में निवास करनेवाली व्यापक सत्ता है। उसी का क्रीडार्थक दिव् धातु से निष्पन्न देव शब्द से समास हो जाता है। इस प्रकार 'वासुदेव' शब्द का अर्थ होता है। समस्त विश्व में व्याप्त सत्ता जो कि लीलामयता से युक्त है । महाभारत में भी इस अर्थ की और सङ्केत मिलता है –

वासनात् सर्वभूतानां वसुत्त्वाद्देवयोनितः।
तस्य देवः परं ब्रह्म वासुदेव इतीरितः॥
महाभारत उद्योगपर्व–७०.३

गीता में लिखा है **'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।'** अर्थात् अनेक जन्मों की साधना के बाद ही कोई विरला ज्ञानी मेरे इस तत्त्व को जान पाता है कि यह सारा विश्व वासुदेव ही है। श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में लिखा है कि वेद वासुदेवपरक ही हैं, यज्ञ वासुदेवपरक ही हैं, योग वासुदेवपरक ही हैं क्रियायें वसुदेवपरक हैं, ज्ञान, तप, धर्म और गति सब कुछ वासुदेवपरक ही है। इन्हीं विभु वासुदेव भगवान् ने जो स्वयं गुणरहित हैं अपनी सदसदपिणी गुणमयी आत्ममाया के द्वारा इस विश्व की रचना की–

**वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः।वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः॥**

**वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः ।वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः ॥**

**स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया ।सदसद्रूपया चासौ गुणमय्याऽगुणो विभुः॥**

**श्रीमद्भागवत १.२.२८–३०**

इन सभी प्रकरणों में वासुदेव का परब्रह्म सत्ता के लिए प्रयोग किया है । वैयाकरणों ने भी इस तत्त्व की ओर सङ्केत किया है कि वासुदेव शब्द व्यापक सत्ता के लिये आनेवाला नित्य शब्द है। काशिकाकार ने लिखा है कि शब्द नित्य ही होते हैं, जब नामकरण में उनका उपादान होता है तब वह काकतालीय न्याय से ही उस अर्थ के बोधक होते हैं। आशय यह है कि शब्द संयोगवश ही नाम से मेल खा जाते हैं।वस्तुतः तो शब्द नित्य ही होते हैं। इस प्रकार वासुदेव शब्द नित्य ही है, सांयोगिक रूप में वसुदेव के पुत्र के रूप में भी उसकी व्युत्पत्ति हो गई है ।

**"अत्यन्तसारभूतत्वाच्चायमर्थो व्यङ्ग्यत्वेन दर्शितो न तु वाच्यत्वेन। सारभूतो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव शोभामावहति। प्रसिद्धिश्चेयमस्त्येव विदग्धविद्वत्परिषत्सु यदभिमततरं वस्तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रकाश्यते न साक्षाच्छब्दवाच्यत्वेन।"** ध्वन्यालोक–४.५

अर्थात् यह एक सामान्य नियम है कि जो बात प्रधान होती है और जो सारभूत तत्त्व होता है उसका प्रकथन कभी भी वाच्य वृत्तियों में नहीं किया जाता । यदि वह बात साफ–साफ कह दी जाती है तो उसमें कोई सुन्दरता नहीं आती । इसके प्रतिकूल जो बात व्यञ्जनावृत्ति से कही जाती है वह कुछ छिपाकर कही जाने के कारण शोभा को धारण करते हैं । इसका कारण यह है कि सहृदयों और विद्वानों दोनों में यह बात प्रसिद्ध ही है कि जो वस्तु अधिक अभीष्ट हो उसे व्यंग्य के रूप में ही प्रकाशित करना चाहिये वाच्य के रूप में नहीं । इसी प्रसिद्धि के आधार पर भगवान् व्यास ने सभी अप्रधान उद्देश्यों का अनुक्रमणी में वाच्यवृत्ति में उल्लेख किया है और प्रधान उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति तथा शान्तरस का उल्लेख व्यंग्य के रूप में **'भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः'** इन शब्दों के द्वारा किया है । इन शब्दों की सङ्गति हमें इस लौकिक प्रसिद्धि के आधार पर ही लगानी चाहिये कि अत्यन्त अभिमत बात व्यंग्य के द्वारा कही जाती है वाच्य के द्वारा नहीं।

इस प्रकार इस बात का विचार किया गया कि यद्यपि अनेक प्रकार के व्यङ्ग्य–व्यजक भाव सम्भव हैं तथापि कवि को एकमात्र रसादिमय व्यंग्य–व्यञ्जक भाव के प्रति ही जागरूक रहना चाहिये । इसी प्रसङ्ग में महाभारत के अङ्गीरस का प्रश्न आया और उस पर भी विस्तारपूर्वक विचार किया गया किन्तु यह प्रासङ्गिक ही था। मुख्य विषय तो यहाँ पर यही चल रहा है कि यदि काव्य की रचना इस प्रकार की जाती है कि

एक अङ्गीरस मान लिया जाय और समस्त कथानक में सभी अवान्तर रस उसी परिवेष में ग्रथित किये जायें तो रचना सुसम्बद्ध हो जाती है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अलङ्कार के प्रयोग के बिना भी अङ्गीभूत रस के अनुरूप काव्य रचे जाने पर अर्थ में नवीनता आती है और काव्य की शोभा में महती वृद्धि होती है। जैसे–

**मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः।**

**येनैकचुलके दृष्टौ तौ दिव्यौ मत्स्यकच्छपौ॥**

'कुम्भ से उत्पन्न योगिराज महात्मा अगस्त्य की जय हो, जिन्होंने उन प्रसिद्ध तथा विचित्र प्रकार के मत्स्य और कच्छप को एक ही अञ्जलि में देखा ।'

प्रस्तुत पद्य का प्रतिपाद्य मुनि विषयक महत्त्व का प्रतिपादन है। यहाँ एक चुल्लू में दिव्य मत्स्य और कच्छप का दर्शन मुनि के महत्ता को दर्शित करता है। यह अक्षुण्ण वर्णन होने से अद्भुत रस के अनुकूल है। यदि कहा जाता कि 'एक चुल्लू में पूरे समुद्र को धारण करने वाले मुनि' तो उतना आश्चर्यजनक नहीं होता क्योंकि अगस्त्य मुनि का समुद्र को एक चुल्लू में धारण करना लोकप्रसिद्ध है। जो वस्तु क्षुण्ण अर्थात् अभ्यस्त होती है वह अद्भुत होते हुए भी लोक में प्रसिद्धि के कारण आश्चर्यजनक नहीं होती। इसलिए एक चुल्लू में दिव्य मत्स्य और कच्छप का दर्शन करने वाले मुनि इस अद्भुत रस के अनुकूल वर्णन किया है। यह अद्भुतरस प्रधान प्रतिपाद्य मुनिविषयक रतिभाव का अङ्ग होकर रसवत् अलंकार हो जाता है। इस प्रकार यहाँ पर एक तो अलङ्कार विद्यमान ही है। अतएव किसी दूसरे अलङ्कार के न होने पर भी वस्तु की रसप्रवण योजना से ही छाया की अधिकता सम्पन्न हो गई है। अक्षुण्ण वस्तु का उपनिबन्धन केवल अद्भुतरस के ही अनुकूल नहीं होता प्रत्युत अन्य रसों के भी अनुकूल हुआ करता है जैसे–

**स्विद्यति रोमाञ्चति वेपते रथ्यातुलाग्रप्रतिलग्नः।**

**स पार्श्वोऽद्यापि सुभग तस्या येनास्यतिक्रान्तः॥**

हे सुभग! मेरी सखी का वह पार्श्वभाग जो तुमसे अनजाने में छू गया था वह आज भी स्वेद, रोमाञ्च, और कम्पन से युक्त है। यहाँ सँकरी गली में पार्श्व का संयोगवशात् स्पर्श और उसका निरन्तर पसीजना यह नवीन वस्तु से श्रृङ्गार रस की पुष्टि हुई है।

चतुर्थ उद्योत के प्रारम्भ में कहा गया था कि ध्वनि और गुणीभूतव्यञ्जय के मार्ग का अवलम्बन करने से कवियों का प्रतिभागुण अनन्त हो जाता है। ऊपर यह बतला दिया गया कि ध्वनि–मार्ग के आश्रय से प्रतिभागुण में अनन्तता किस प्रकार आती है।

अब यह विचार करना शेष रह गया है कि गुणीभूतव्यङ्ग्य का आश्रय लेने से प्रतिभागुण में अनन्तता किस प्रकार आती है। गुणीभूतव्यङ्य भी तीन प्रकार का होता है– वस्तु, अलङ्कार और रस । यदि गुणीभूतव्यङ्ग्य वस्तु इत्यादि का भी आश्रय लिया जाय तो भी पुराना अर्थ नया सा मालूम पड़ने लगता है। गुणीभूतव्यङ्य्श का विस्तार अनन्त है। एक तो जितने भी ध्वनिभेद होते हैं वे सब गुणीभूत हो जाते हैं। ध्वनिभेद स्वयं ही अनन्त हैं। अतः गुणीभूतव्यङ्योंतव का अनन्त हो जाना भी स्वाभाविक ही है । दूसरी बात यह है कि अलङ्कार भी अनन्त होते हैं। जिनमें प्रायः गुणीभूतव्यङ्य्त का ही आधार पाया जाता है। अतः वृत्तिकार ने गुणीभूतव्यङ्यि् के द्वारा काव्यार्थ में नवीनता लाने के उदाहरण नहीं दिये हैं। उन्होंने उदाहरणों का अन्वेषण

पाठकों पर ही छोड़ दिया है। किन्तु अभिनवगुप्त ने दिग्दर्शन कराने के लिये वस्तु, अलङ्कार और रस इन तीन गुणीभूतव्यङ्ग्यों से काव्य में नवीनता कैसे आती है उसका एक एक उदाहरण दिया है–

(१) अभिनवगुप्त द्वारा निर्मित गाथा की संस्कृत छाया इस प्रकार है–

**भय–विह्वल–रक्षणैकमल्लशरणागतानामर्थानाम्।**
**क्षणमात्रमपि न दत्ता विश्रामकथेतियुक्तमिदम् ।।**

कोई कवि राजा की दानशीलता की प्रशंसा करते हुये कह रहा है–

हे राजन! जो लोग भय से व्याकुल होते हैं उनकी रक्षा करने में जितना शौर्य आपके अन्दर है, उतना और किसी में नहीं पाया जाता। धन भी आपकी शरण में आये। किन्तु उन धनों को आपने एक क्षण भी अपने यहाँ विश्राम नहीं करने दिया। क्या ऐसा करना आपकी शरणागत के रक्षण की तत्परता के अनुकूल था?'

यहाँ पर यह व्यञ्जना निकलती है कि– हे राजन! आप बड़े ही दानशील हैं और शरणागतों की रक्षा में तत्पर रहते हैं। यह व्यङ्याप र्थ वाच्य की अपेक्षा सुन्दर भी है और उसका उपकारक भी । अतएव यह गुणीभूतव्यङ्थ्म है। इस पद्य का आशय एक दूसरी गाथा से लिया गया है जिसकी छाया इस प्रकार है–

**त्यागिजनपरम्परासञ्चारणखेदनिस्सहशरीराः।**
**अर्थाः कृपणगृहस्थाः स्वस्थावस्थाः स्वपन्तीव।।**

'धन दानी लोगों के हाथों में नित्य प्रति घूमते ही रहते हैं, एक हाथ में आते हैं और दूसरे में चले जाते हैं, कभी रुकते ही नहीं। इस भ्रमण लीला में वे इतने थक जाते हैं कि और अधिक भ्रमण करने की शक्ति ही उनमें नहीं रहती । मानों इसीलिये कृपणों के घरों में पहुँचकर वे धन स्वस्थ अवस्था को प्राप्त होकर आराम से सोते हैं।

बात वही है। किन्तु अभिनवगुप्त ने अपने पद्य में ऐसी व्यङ्ग्ये वस्तु का आश्रय ले लिया है जो गुणीभूत हो गई है। इस प्रकार गुणीभूतव्यंग्य वस्तु का आश्रय लेने से पुराने अर्थ में नवीनता आ जाती है ।

(२) यदि अलङ्कार व्यङ्ग्य हो और वह गुणीभूत हो जाय तो उसका आश्रय ले लेने से भी पुरानी वस्तु में नवीनता आ जाती है। इसका उदाहरण भी अभिनवगुप्त का पद्य ही है–

**वसन्तमत्तालिपरम्परोपमाः कचास्तवासन् किल रागवृद्धये।**

**श्मशानभूभागपरागभासुराः कथन्तदेते न मनाग्विरक्तये॥**

किसी व्यक्ति को वृद्धावस्था में भी वासनाएँ पीडित कर रही हैं। उसका कोई ज्ञानी मित्र उससे कह रहा है– 'तुम्हारे यौवन काल में तुम्हारे बाल इतने काले थे और ऐसे मालूम पड़ रहे थे मानो वसन्तकाल के मतवाले भौरे पंक्ति बनाकर उड़ रहे हों। उस समय तुम्हारे उस भरे पूरे यौवन ने तुम्हारे अन्दर काम–वासना को खूब बढ़ाया। अब तुम्हारे ये बाल इतने सफेद हो गये हैं कि मालूम पड़ता है स्मशानभूमि पर पड़ी हुई सफेद चिताभस्म हो । इन सफेद बालों से तो तुम्हारे अन्दर विराग होना ही चाहिये ।

किन्तु क्या बात है कि ये बाल तुम्हारे अन्दर विराग को जागृत नहीं करते। इस गाथा की रचना में भी एक पुराने पद्य का आशय ग्रहण किया गया है–

**क्षुत्तृष्णाकाममात्सर्यं मरणाच्च महद्भयम्।**

**पञ्चैतानि विवर्धन्ते वार्धके विदुषामपि॥**

चाहे कोई कितना ही विद्वान् क्यों न हो किन्तु जब उसकी वृद्धावस्था आ जाती है तो उसके अन्दर ये पाँच बातें बढ़ ही जाती हैं– भूख और प्यास, काम–वासना, दूसरों से ईर्ष्या–द्वेष और मरने से बहुत अधिक भय।

आशय दोनों पद्यों का एक ही है। किन्तु इस पुराने पद्य का आशय लेते हुये भी अभिनवगुप्त ने इसमें कुछ नवीनता पैदा कर दी है। अभिनवगुप्त के पद्य में दो अलङ्कार ध्वनित होते हैंकृ

(क) मृत्यु के निकट पहुँच कर तो तुम्हारे अन्दर विराग होना ही चाहिये, किन्तु अधिक हम तुमसे क्या कहें? हमारा तुमसे कुछ अधिक कहना ठीक नहीं है।' यह उक्तविषयक आक्षेप अलङ्कार है क्योंकि इसमें कहीं गई बात का निषेध कर दिया गया है। अथवा 'अब तुम्हारी मृत्यु निकट आ रही है इस न कही हुई बात के कहने का निषेध व्यंग्य है जिससे यह अनुक्तविषयक आक्षेप है। विराग की भावना को तीव्र करना ही विशेष अभिधेय है।

( ख ) कामवासना का कारण विद्यमान नहीं है फिर भी कामोत्पत्ति रूप कार्य हो रहा है। यह विभावना है । वे दोनों व्यंग्य अलङ्कार वाच्य का सौन्दर्य ही बढ़ाते हैं। अतः ये गुणीभूत हो गये हैं। इस प्रकार यहाँ पर गुणीभूतव्यंग्य अलङ्कार का आश्रय ही पुराने भाव में नवीनता उत्पन्न करनेवाला है।

रस गुणीभूतव्यंग्य होकर जब वाच्य को उपकृत करता है तब भी पुराने अर्थ में नवीनता आ जाती है । इसका भी उदाहरण अभिनवगुप्त रचित है–

**जरा नेयं मूर्ध्नि ध्रुवमयमसौ कालभुजगः**
**क्रुधान्धः फूत्कारैः स्फुटगरलफेनान् प्रकिरति।**
**तदेनं संपश्यत्यथ च सुखितम्मन्यहृदयः**

**शिवो पायन्नेच्छन् बत बत सुधीरः खलु जनः॥**

'लोगों के सिर के सफेद बाल बुढापा नहीं हैं किन्तु निस्सन्देह यह कालरूपी सर्प क्रोध में अन्धा हो गया है और बार–बार फुफकारता है जिससे तुम्हारे सिर पर विष का झाग छूट रहा है और वह स्पष्टरूप से सफेद बालों के रूप में झलक रहा है, इसको लोग देखते हैं और फिर भी उनका हृदय अपने को सुखी ही समझता है । लोग इस बात की चेष्टा नहीं करते कि कल्याणकारक उपाय का सहारा लें । निस्सन्देह लोगों में आश्चर्यजनक धैर्य है । यह दुःख की बात है ।'

इस पद्य में भी एक दूसरे पुराने श्लोक की छाया है–

**जराजीर्णाशरीरस्य वैराग्यं यत्र जायते।**

**तन्नूनं हृदये मृत्युर्दृढन्नास्तीति निश्चयः॥**

जिस व्यक्ति का शरीर जरा से जीर्ण हो चुका है उसके हृदय में भी यदि वैराग्य की भावना उत्पन्न नहीं होती तो इसका तो आशय यही है कि उसके हृदय में दृढ़ निश्चय है कि असंदिग्ध रूप में मौत है ही नहीं।

दोनों पद्यों के अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं है किन्तु इस श्लोक में शान्तरस का परिपाक हुआ है । शान्तरस का परिपाक उक्त अभिनव गुप्त के श्लोक में भी है किन्तु अन्तर यह हो गया है कि अभिनवगुप्त के पद्य में विस्मय स्थायी भाव का उपादान हुआ है वह विस्मय अद्भुतरस के रूप में आस्वादयोग्य है अद्भुतरस शान्त की प्रतिपत्ति का अंग ही है इसीलिये वह गुणीभूत होकर शान्त को अधिक रमणीय बना रहा है।

यहाँ पर गुणीभूतव्यङ्ग्य रस का आश्रय लेने से ही नवीनता आ गई है इस प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेदों का आश्रय लेकर किस प्रकार पुराने अर्थ में नवीनता आ जाती है इसका दिग्दर्शन करा दिया गया है।

इस प्रकार पुरातन कवियों के प्रबन्धों के रहने पर भी यदि कवि में प्रतिभागुण हो तो ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के आश्रय से काव्य के अर्थ का विराम अर्थात् अवसान नहीं होने देगा, उसमें नवीनता का आधान कर ही देगा–

**ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च समाश्रयात्।**

**न काव्यार्थविरामोऽस्ति यति स्यात्प्रतिभागुणः॥६॥**

यहाँ प्रतिभा से तात्पर्य है कवि में रहने वाली वह अलौकिक शक्ति जो कवित्वबीजभूत–संस्कारविशेष–रूप है जिसके होने से ही कवि में शब्द और अर्थ स्फुरित होते हैं और वह काव्यरचना में समर्थ हो पाता है। प्रतिभा के अभाव में कोई भी विषय वर्णनीय प्रतीत नहीं होता। नये अर्थ उसे दिखेंगे नहीं और पुराने में पिष्टपेषण का भय उसे बनेगा। इसलिए नवीनता के लिए प्रतिभा का होना अनिवार्य है। और भी प्रतिभा के अभाव में ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य रूप अर्थद्वय के अनुरूप शब्द का सन्निवेश करने में भी कवि की प्रवृत्ति नहीं बनेगी। और यदि आप कहें कि अपेक्षित अर्थविशेष के अभाव में केवल शब्दरचना ही बन्धछाया है तो यह उचित नहीं है क्योंकि ऐसे बन्धछाया को सहृदयजन आदर नहीं देते। और दूसरी बात है कि ऐसे अर्थ की अपेक्षा से रहित चतुर और मधुर वचन की रचना में भी काव्य का व्यवहार होने लगेगा। शब्द और अर्थ के साहित्य को ही जब काव्य कहा जाता है तो ऐसी परिस्थिति में पुराने अर्थ और नयी शब्दरचना रूपी जो बन्धच्छाया है उसमें काव्य का व्यवहार कैसे होगा? जबकि उपजीवक काव्य में काव्यव्यवहार होता है। उसके लिए आनन्दवर्धन का सङ्केत है कि जैसे दूसरे के अर्थवस्तु पर रचित बन्धछाया में काव्य व्यवहार होता है उसी प्रकार अर्थ की अपेक्षा से रहित मधुर शब्दरचना में भी काव्यव्यवहार होगा।

**न चार्थानन्त्यं व्यङ्ग्यार्थापेक्षयैव यावद्वाच्यार्थापेक्षयापीति प्रतिपादयितुमुच्यते–**

**अवस्थादेशकालादिविशेषैरपि जायते।**

**आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावतः॥**

**–ध्वन्यालोक–४.७**

पूर्व में यह प्रतिपादित किया गया है कि काव्यार्थ में अनन्तता ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के आश्रयण से होता है यदि कवि में प्रतिभा गुण विद्यमान होता है तो प्रकृत कारिका में यह उपस्थापित किया जा रहा है कि अर्थ में आनन्त्य पूर्व की भाँति व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा से तो होता ही है लेकिन वाच्यार्थ की अपेक्षा से भी होता है।

व्यङ्ग्य की अपेक्षा किये बिना भी वाच्य में स्वाभाविक रुप से अवस्था, देश और कालादि के प्रभाव से अनन्तता आती है। जैसे कुमारसम्भव में–

**सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।**

**सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव॥**

**कु.सं.–१.४६**

ऐसा लगता है विधाता ने एक ही जगह समस्त सौन्दर्य को देखने की इच्छा से उपमा में आनेवाली सभी वस्तुओं को इकट्ठा करके पार्वती के अङ्ग–प्रत्यङ्गों को बनाया है। कालिदास ने इस उक्ति के द्वारा पार्वती के सौन्दर्य का वर्णन एक तरह से पूरा कर दिया था फिर भी जब वो शङ्कर के नजरों के सामने आती हैं तो कालिदास फिर से उन्हें मन को मथने वाले मन्मथ अर्थात् कामदेव के सहयोगी उपकरण के रूप में वर्णित करते हैं। कामदेव तपस्या में निरत भगवान् शिव को देखकर भयभीत हो जाता है उसकी सारी शक्तियाँ मानों क्षीण हो जाती हैं तभी वह नवयौवना पार्वती को देखता है और उसमें शक्ति का सञ्चार होने लगता है और वह फिर बाण का अनुसन्धान करने के लिए उद्यत होता है। कालिदास ने यद्यपि पार्वती के सौन्दर्य का वर्णन समाप्त कर चुके थे फिर भी तीसरे सर्ग के ५३ से ५७ कुल ५ श्लोकों में पार्वती का वर्णन करते हैं। विवाह के समय सजने पर उसी पार्वती का सातवें सर्ग में १३ से २१ श्लोक तक कुल ०६ श्लोकों में फिर से वर्णन करते हैं। इस प्रकार महाकवि कालिदास ने तीनों ही स्थलों पर पार्वती के सौन्दर्य का वर्णन भिन्न रूप में किया है। तीनों वर्णनों में कहीं कोई समानता नहीं है और न हीं पुनरुक्ति है। तीनों नवीनता लिए हुए हैं। विषमबाणलीला में आनन्दवर्धन ने लिखा है

**न च तेषां घटतेऽवधिः, न च ते दृश्यन्ते कथमपि पुनरुक्ताः।**

**ये विभ्रमाः प्रियाणामर्था वा सुकविवाणीनाम्॥**

प्रियतमाओं का विभ्रम अर्थात् हाव–भाव और अच्छे कवियों की वाणी की सीमाएँ न तो समाप्त होती हैं और नहीं पुनरुक्त होती हैं।

अवस्था भेद का दूसरा प्रकार यह है कि 'अचेतन पदार्थों का चेतन रुप से प्रसिद्ध होना' जैसे हिमालय और गङ्गा दोनों ही दो रूपों वर्णित होते हैं। और दोनों ही स्थलों पर बिल्कुल भिन्न रूप में दिखाई पड़ते हैं। कुमारसम्भव में कालिदास ने सर्वप्रथम हिमालय को अचेतन पर्वत के रुप में वर्णित किया है और बाद में सप्तर्षियों से बातचीत के प्रसङ्ग में चेतन रुप में वर्णित किया है। चेतन पदार्थों का भी अवस्था भेद के अनुसार और उसमें भी अवस्थाभेद से नानात्व पाया जाता है। जैसे कुमारियों का कामदेव से पीडित हृदयवाली की अवस्था दूसरी होती है और उससे भिन्न विकार रहित की अवस्था दूसरी होती है। उसमें भी जो विनीत होती हैं उनकी स्थिति दूसरी होती है और ज अविनीत होती है। उसकी दूसरी अवस्था होती है। अचेतन पदार्थों का आरम्भ, मध्य, अन्त आदि अवस्था के भेद से भिन्न भिन्न अचेतन पदार्थों का एक एक करके उनके स्वरूप का वर्णन से आनन्त्य आ जाता है। जैसे–

**हंसानां निनदेषु यैः कवलितैरासज्यते कूजताम्**
**अन्यः कोऽपि कषाय–कण्ठ–लुठनादाघर्घरो विभ्रमः।**
**ते सम्प्रत्यकठोर–वारण–वधू–दन्ताङ्कुर–स्पर्धिनो**
**निर्याताः कमलाकरेषु बिसिनी–कन्दाग्रिम–ग्रन्थयः॥**

अर्थात् जिनके खाने से कूजते हुए हंसों की आवाजों में मधुर कण्ठ के संयोग से घर्घर ध्वनि युक्त कुछ नया ही विभ्रम उत्पन्न हो जाता है और हथिनी के नये कोमल दन्ताङ्कुरों से स्पर्धा करने वाली मृणाल की वह नवीन ग्रन्थियाँ इस समय तालाबों में बाहर निकल आई है। यहाँ मृणाल की नवीन ग्रन्थियों के आरम्भ का वर्णन होने से अवस्थाभेदमूलक चमत्कार प्रतीत होता है।

देश के भेद से अचेतन पदार्थों में नानात्व होता है। जैसे अनेक देशों में चलने वाली हवा, जल, और पुष्प आदि एक दूसरे से भिन्न होते हैं। चेतन पदार्थों में भी मानव, पशु, पक्षि इत्यादि गाँव, जंगल, और शहर में पले बढे होने के कारण से एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न दिखाई देते हैं। उनकि अलग अलग विशेषताएँ होती है। इनका ठीक–ठीक विवेचन करके उस उस रूप में वर्णन करने से उसी प्रकार आनन्त्य प्राप्त कर लेता है। जैसे कि मनुष्यों में ही भिन्न–२ देश, दिशायें, व्यवहार, रीति–रिवाज, क्रियाकलाप परस्पर इतने भिन्न होते हैं विशेष रूप से महिलाओं में कविजन अपनी प्रतिभा के अनुसार इनका प्रयोग अपने काव्यों में करते हैं।

उसी प्रकार कालभेद से भी काव्यार्थ में नानात्व होता है। जैसे ऋतु के भेद से दिशा, आकाश, और जल इत्यादि अचेतनों का, और चेतनों का औत्सुक्य इत्यादि का परिमाण और उनका स्वरुप आयु, ऋतु, इत्यादि काल भेद के अनुसार घटता बढ़ता रहता है स्वरूपभेद तो प्रसिद्ध ही है। एक ही वस्तु पर स्वरूपभेद से नाना प्रकार के वर्णन के द्वारा काव्यार्थ में अनन्तता का सम्पादन कर सकते हैं।

यहाँ ध्वनिकार ने एक सम्भावित प्रश्न उपस्थापित किया है। उनका कथन है कि अवस्था देश और काल के प्रभाव से शुद्ध वाच्य में अनन्तता आती है। एक ही वस्तु विभिन्न देश काल और परिस्थिति में विभिन्न प्रकार की हो जाया करती है किन्तु इन सभी का परिज्ञान कवि को तो होता नहीं है वह तो केवल योगी को ही हो सकता है योगी अपनी साधना से भूत भविष्य और वर्त्तमान का हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष कर लेता है। किन्तु कवि तो योगी नहीं है वह तो अनुभव में आई हुई चीजों का ही सामान्यीकरण करके वर्णित करता है जिससे सभी लोग उससे अपने आप को जोड़ लेते हैं। इस प्रकार अनुभवयोग्य जितने भी लौकिक पदार्थ हैं वे सीमित हैं और पुराने कवियों ने कहीं न कहीं उनका अनुभव करके काव्य में उपनिबद्ध भी कर दिया है। ऐसी स्थिति में किसी पदार्थ का विशिष्ट वर्णन न करने के कारण आधुनिक जितनी भी रचनायें हैं उनमें नवीनता कहने मात्र को हैं वस्तुतः वह प्रतिपादन वैदग्ध्यभङ्क्तिभणिति अर्थात् उक्ति वैचित्र्य मात्र है।

इस सन्दर्भ में उनका कथन है कि यह जो कहा गया कि आधुनिक कवि की प्रवृत्ति अनुभव के सामान्यीकरण में ही होता है और सामान्य विषयों के सीमित होने के कारण पूर्व के कवियों द्वारा ही उसका प्रयोग कर देये जाने के कारण बाद की रचनाओं में नवीनता नहीं हो सकती यह उचित नहीं है क्योंकि यदि सामान्य अनुभव को लेकर ही काव्य की प्रवृत्ति होती है तो फिर महाकवियों द्वारा रचित काव्यार्थों का वैचित्र्य फिर क्या होगा। और भी यदि सामान्य को छोड़कर अन्य के लिए काव्यार्थ का अभाव होने

से वाल्मीकि के अतिरिक्त कवि शब्द का व्यवहार फिर किस प्रकार होगा। क्योंकि सामान्य का आदिकवि द्वारा पहले ही प्रतिपादन किया जा चुका है।

यदि आप कहें कि उक्ति वैचित्र्य के द्वारा यह दोष निराकृत हो सकता है तो फिर उक्ति वैचित्र्य क्या है? इसे स्पष्ट करना होगा। वाच्य विशेष को प्रतिपादित करने वाले वचन को उक्ति कहते हैं– 'उक्तिर्हि वाच्यविशेषप्रतिपादि वचनम्।' और वचन के वैचित्र्य से वाच्य में भी विचित्रता आ जाती है। क्योंकि वाच्य–वाचक की अविनाभाव से प्रवृत्ति होती है। अर्थात् दोनों की साथ–२ प्रवृत्ति और साथ–२ निवृत्ति होती है। काव्य में प्रतिभासित होने वाले वाच्य का जो स्वरूप होता है वह विशेष के साथ अभेद होकर ही प्रतीत होता है। इसलिए उक्तिवैचित्र्यवादियों को वाच्यवैचित्र्य की उपेक्षा करते हुए भी इसे अवश्य स्वीकार करना चाहिए। इन सारे विषयों को संक्षेप में इस प्रकार समझाया गया है–

**वाल्मीकिव्यतिरिक्तस्य यद्येकस्यापि कस्यचित्।**

**इष्यते प्रतिभार्थेषु तत्तदानन्त्यमक्षयम्॥**

अर्थात् वाल्मीकि के अतिरिक्त किसी एक कवि की भी प्रतिभा अर्थों में यदि मान ली जाती है तो वह क्षय रहित आनन्त्य को प्राप्त कर लेता है।

और भी यदि आप कहें कि काव्य में नवीनता प्रयोजक उक्तिवैचित्र्य है तो उक्त कथन से आचार्य आनन्दवर्धन के ही मत की सिद्धि हो रही है। क्योंकि अभी तक जितने भी काव्यार्थ के अनन्तता के हेतु गिनाये है। वे सभी उक्तिवैचित्र्य के कारण दुगुने हो गए। और भी जो उपमा–श्लेष आदि अलङ्कारवर्ग प्रसिद्ध हैं वे भी उक्तिवैचित्र्य के साथ उपनिबद्ध होकर असीमित रूप से सैकड़ों शाखाओं में परिवर्तित हो जायेंगे। और उक्ति भी अपनी भाषा के भेद से व्यवस्थित होती हुई प्रत्येक भाषा में रहने वाले अर्थवैचित्र्य के निबन्धन रूप काव्यार्थों का आनन्त्य उत्पन्न कर देती है। जैसे–

**मम मम इति भणतो व्रजति कालो जनस्य।**

**तथापि न देवो जनार्दनो गोचरो भवति मनसः॥**

अर्थात् मेरा मेरा कहते हुए व्यक्ति का समय बीत जाता है। तथापि देव जनार्दन मन के गोचर नहीं होते है। इस प्रकार जैसे–जैसे निरूपण करते हैं वैसे वैसे काव्यार्थ अनन्त होता जाता है।

**॥ मूलपाठः ॥**

यथा व्यङ्ग्य–भेद–समाश्रयेण ध्वनेः काव्यार्थानां नवत्वमुत्पद्यते, तथा व्यञ्जक–भेद–समाश्रयेणापि। तत्तु ग्रन्थ–विस्तर–भयान्न लिख्यते, स्वयमेव सहृदयैरभ्यूह्यम्। अत्र च पुनः पुनरुक्तमपि सारतयेदमुच्यते–

**व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन्विविधे सम्भवत्यपि।**

**रसादिमय एकस्मिन्कविः स्यादवधानवान्॥**

ध्वन्यालोकः–४.५॥

अस्मिन्नर्थानन्त्यहेतौ व्यङ्ग्य–व्यञ्जकभावे विचित्रे शब्दानां सम्भवत्यपि कविरपूर्वार्थ–लाभार्थी रसादिमय एकस्मिन् व्यङ्ग्य–व्यञ्जक–भावे यत्नादवदधीत। रस–भाव–तदाभासरूपे हि व्यङ्ग्ये तद्–व्यञ्जकेषु च यथा–निर्दिष्टेषु वर्ण–पद–वाक्य–रचना–प्रबन्धेष्ववहित–मनसः कवेः सर्वमपूर्वं काव्यं सम्पद्यते।

तथा च रामायण–महाभारतादिषु सङ्ग्रामादयः पुनः पुनरभिहिता अपि नव–नवाः प्रकाशन्ते। प्रबन्धे चाङ्गी रस एक एवोपनिबध्यमानोऽर्थ–विशेष–लाभं छायातिशयं च पुष्णाति। कस्मिन्निवेति चेत्– यथा रामायणे यथा वा महाभारते॥ रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिना कविना सूत्रितः "शोकः श्लोकत्वमागतः" इत्येवंवादिना। निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्तवियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता।

महाभारतेऽपि शास्त्र–काव्य–रूप–च्छायान्वयिनि वृष्णि–पाण्डव–विरसावसान–वैमनस्य–दायिनीं समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्य–जनन–तात्पर्यं प्राधान्येन स्व–प्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया विवक्षाविषयत्वेन सूचितः। एतच्चांशेन विवृतमेवान्यैर्व्याख्या–विधायिभिः। स्वयमेव चैतदुद्गीर्णं तेनोदीर्ण–महा–मोह–मग्नमुज्जिहीर्षता लोकमतिदृविमल–ज्ञानालोकदायिना लोकनाथेन–

**यथा यथा विपर्येति लोक–तन्त्रमसारवत् ।**

**तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संशयः॥**

इत्यादि बहुशः कथयता। ततश्च शान्तो रसो रसान्तरैर्मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः पुरुषार्थान्तरैस्तदुपसर्जनत्वेनानुगम्यमानोऽङ्गित्वेन विवक्षा–विषय इति महाभारत–तात्पर्यं सुव्यक्तमेवावभासते। अङ्गाङ्गि–भावश्च यथा रसानां तथा प्रतिपादितमेव।

पारमार्थिकान्तस्तत्त्वानपेक्षया शरीरस्येवाङ्ग–भूतस्य रसस्य पुरुषार्थस्य च स्व–प्राधान्येन चारुत्वमप्यविरुद्धम्।

ननु महाभारते यावान्विवक्षा–विषयः सोऽनुक्रमण्यां सर्व एवानुक्रान्तो न चैतत्तत्र दृश्यते, प्रत्युत सर्व–पुरुषार्थ–प्रबोध–हेतुत्वं सर्व–रस–गर्भत्वं च महाभारतस्य तस्मिन्नुद्देशे स्व–शब्द–निवेदितत्वेन प्रतीयते।

अत्रोच्यते–सत्यं शान्तस्यैव रसस्याङ्गित्वं महाभारते मोक्षस्य च सर्व–पुरुषार्थेभ्यः प्राधान्यमित्येतन्न स्व–शब्दाभिधेयत्वेनानुक्रमण्या दर्शितम्, दर्शितं तु व्यङ्ग्यत्वेन–

"भगवान्वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः" इत्यस्मिन् वाक्ये। अनेन ह्ययमर्थो व्यङ्ग्यत्वेन विवक्षितो यदत्र महाभारते पाण्डवादि–चरितं यत्कीर्त्यते तत्सर्वमवसानविरसमविद्याप्रपञ्चरूपञ्च, परमार्थसत्य–स्वरूपस्तु भगवान्वासुदेवोऽत्र कीर्त्यते। तस्मात्तस्मिन्नेव परमेश्वरे भगवति भवत भावित–चेतसो, मा भूत विभूतिषु निःसारासु रागिणो गुणेषु वा नय–विनय–पराक्रमादिष्वमीषु केवलेषु केषुचित्सर्वात्मना प्रतिनिविष्ट–धियः। तथा चाग्रे– पश्यत निःसारतां संसारस्येत्यमुमेवार्थं द्योतयन् स्फुटमेवावभासते व्यञ्जक–शक्त्यनुगृहीतश्च शब्दः। एवंविधमेवार्थं गर्भीकृतं सन्दर्शयन्तोऽनन्तरश्लोका लक्ष्यन्ते–"स हि सत्यम्" इत्यादयः।

अयं च निगूढ–रमणीयोऽर्थो महाभारतावसाने हरिवंशवर्णनेन समाप्तिं विदधता तेनैव कवि–वेधसा कृष्ण–द्वैपायनेन सम्यक्–स्फुटी–कृतः। अनेन चार्थेन संसारातीते तत्त्वान्तरे भक्त्यतिशयं प्रवर्तयता सकल एव सांसारिको व्यवहारः पूर्व–पक्षीकृतो न्यक्षेण प्रकाशते। देवता–तीर्थ–तपः–प्रभृतीनां च प्रभावातिशयवर्णनं तस्यैव परब्रह्मणः प्राप्त्युपायत्वेन

तद्–विभूतित्वेनैव देवता–विशेषाणामन्येषां च। पाण्डवादि–चरित–वर्णनस्यापि वैराग्य–जनन–तात्पर्याद्वैराग्यस्य च मोक्ष–मूलत्वान्मोक्षस्य च भगवत्–प्राप्त्युपायत्वेन मुख्यतया गीतादिषु प्रदर्शिततत्वात्पर–ब्रह्म–प्राप्त्युपायत्वमेव परम्परया। वासुदेवादि–संज्ञाभिधेयत्वेन चापरिमित–शक्त्यास्पदं परं ब्रह्म गीतादि–प्रदेशान्तरेषु तदभिधानत्वेन लब्ध–प्रसिद्धि माथुर–प्रादुर्भावानुकृत–सकल–स्वरूपं विवक्षितं न तु माथुर–प्रादुर्भावांश एव, सनातन–शब्द–विशेषितत्वात् । रामायणादिषु चानया संज्ञया भगवन्मूर्त्यन्तरे व्यवहार–दर्शनात् । निर्णीतश्चायमर्थः शब्दतत्त्वविद्भिरेव।

तदेवमनुक्रमणीनिर्दिष्टेन वाक्येन भगवद्–व्यतिरेकिणः सर्वस्यान्यस्यानित्यतां प्रकाशयता मोक्ष–लक्षण एवैकः परः पुरुषार्थः शास्त्रनये, काव्य–नये च तृष्णाक्षयसुखपरिपोषलक्षणः शान्तो रसो महाभारतस्याङ्गित्वेन विवक्षित इति सुप्रतिपादितम्। अत्यन्तसारभूतत्वाच्चायमर्थो व्यङ्ग्यत्वेनैव दर्शितो न तु वाच्यत्वेन। सारभूतो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव शोभामावहति। प्रसिद्धिश्चेयमस्त्येव विदग्ध–विद्वत्परिषत्सु यदभिमततरं वस्तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रकाश्यते न साक्षाच्छब्दवाच्यत्वेन। तस्मात्स्थितमेतत्–अङ्गिभूत–रसाद्याश्रयेण काव्ये क्रियमाणे नवार्थ–लाभो भवति बन्ध–च्छाया च महती सम्पद्यत इति। अत एव च रसानुगुणार्थ–विशेषोपनिबन्धमलङ्कारान्तर–विरहेऽपि छायातिशय–योगि लक्ष्ये दृश्यते। यथा–

**मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भ–सम्भवः।**

**येनैक–चुलके दृष्टौ तौ दिव्यौ मत्स्य–कच्छपौ॥**

इत्यादौ। अत्र ह्यद्भुतदृरसानुगुणदृमेकचुलके मत्स्य–कच्छप–दर्शनं छायातिशयं पुष्णाति। तत्र ह्येक–चुलके सकल–जलधि–सन्निधानादपि दिव्य–मत्स्य–कच्छप–दर्शनमक्षुण्णत्वादद्भुत– रसानुगुणतरम्। क्षुण्णं हि वस्तु लोक–प्रसिद्ध्याद्भुतमपि नाश्चर्यकारि भवति। न चाक्षुण्णं वस्तूपनिबध्यमानमद्भुत–रसस्यैवानुगुणं यावद्रसान्तरस्यापि। तद्यथा–

**स्विद्यति रोमाञ्चते वेपते रथ्यायां तुलाग्रेण।**
**स पार्श्वोऽद्यापि सुभग! तस्या येनास्यतिक्रान्तः॥**

इति छाया

एतद्गाथार्थाद्भाव्यमानाद्या रस–प्रतीतिर्भवति, सा त्वां स्पृष्ट्वा स्विद्यति रोमाञ्चते वेपते इत्येवं–विधादर्थात्प्रतीयमानान्मनागपि नो जायते। तदेवं ध्वनि–प्रभेद–समाश्रयेण यथा काव्यार्थानां नवत्वं जायते तथा प्रतिपादितम्। गुणीभूत–व्यङ्ग्यस्यापि त्रिभेद–व्यङ्ग्यापेक्षया ये प्रकारास्तत्–समाश्रयेणापि काव्य–वस्तूनां नवत्वं भवत्येव। तत्त्वतिविस्तारकारीति नोदाहृतं सहृदयैः स्वयमुत्प्रेक्षणीयम। ध्वा– ४.५॥

**ध्वनेरित्थं गुणीभूत–व्यङ्ग्यस्य च समाश्रयात् ।**

**न काव्यार्थ–विरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभा–गुणः ॥**

ध्वन्यालोकः–४.६॥

सत्स्वपि पुरातन–कवि–प्रबन्धेषु यदि स्यात्प्रतिभा–गुणः, तस्मिंस्त्वसति न किञ्चिदेव कवेर्वस्त्वस्ति। बन्धच्छायाप्यर्थद्वयानुरूप–शब्द–सन्निवेशोऽर्थ–प्रतिभानाभावे कथमुपपद्यते।

अनपेक्षितार्थ–विशेषाक्षर–रचनैव बन्ध–च्छायेति नेदं नेदीयः सहृदयानाम्। एवं हि सत्यर्थानपेक्ष–चतुर–मधुर–वचन–रचनायामपि काव्यव्यपदेशः प्रवर्तेत। शब्दार्थयोः साहित्येन काव्यत्वे कथं तथाविधे विषये काव्यव्यवस्थेति चेत्–परोपनिबद्धार्थ–विरचने यथा तत्काव्यत्वव्यवहारस्तथा तथाविधानां काव्यसन्दर्भाणाम्। ध्वा– ४.६॥

न चार्थानन्त्यं व्यङ्ग्यार्थापेक्षयैव यावद्वाच्यार्थापेक्षयापीति प्रतिपादयितुमुच्यते–

**अवस्थादेश–कालादि–विशेषैरपि जायते।**

**आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावतः ॥**

ध्वन्यालोकः–४.७॥

शुद्धस्यानपेक्षित–व्यङ्ग्यस्यापि वाच्यस्यानन्त्यमेव जायते स्वभावतः। स्वभावो ह्ययं वाच्यानां चेतनानामचेतनानां च यदवस्था–भेदाद्देश–भेदात्काल–भेदात्स्वालक्षण्य–भेदाच्चानन्तता भवति। तैश्च तथा–व्यवस्थितैः सद्भिः प्रसिद्धानेक–स्वभावानुसरण–रूपया स्वभावोक्त्यापि तावदुपनिबध्यमानैर्निरवधिः काव्यार्थः सम्पद्यते।

तथा ह्यवस्था–भेदान्नवत्वं यथा– भगवती पार्वती कुमारसम्भवे "सर्वोपमा–द्रव्य–समुच्चयेन" (कु.सं. १.४६) इत्यादिभिरुक्तिभिः प्रथममेव परिसमापित–रूप–वर्णनापि पुनर्भगवतः शम्भोर्लोचन–गोचरमायान्ती "वसन्त–पुष्पाभरणं वहन्ती" (कु.सं. ३.५३) मन्मथोपकरण–भूतेन भङ्ग्यन्तरेणोपवर्णिता। सैव च पुनर्नवोद्वाह–समये प्रसाध्यमाना "तां प्राङ्–मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीम्" इत्याद्युक्तिभिर्नवेनैव प्रकारेण निरूपितरूपसौष्ठवा। न च ते तस्य कवेरेकत्रैवासकृत्कृता वर्णन–प्रकारा अपुनरुक्तत्वेन वा नव–नवार्थ–निर्भरत्वेन वा प्रतिभासन्ते। दर्शितमेव चैतद्विषमबाणलीलायाम्–

**न च तेषां घटतेऽवधिः, न च ते दृश्यन्ते कथमपि पुनरुक्ताः।**

**ये विभ्रमाः प्रियाणामर्था वा सुकवि–वाणीनाम्॥**

अयमपरश्चावस्था–भेद–प्रकारो यदचेतनानां सर्वेषां चेतनं द्वितीयं रूपमभिमानित्व–प्रसिद्धं हिमवद्गङ्गादीनाम्। तच्चोचितचेतनविषयस्वरूप–योजनयोपनिबध्यमानमन्यदेव सम्पद्यते। यथा कुमार–सम्भव एव पर्वत–स्वरूपस्य हिमवतो वर्णनं, पुनः सप्तर्षि–प्रियोक्तिषु चेतन–तत्स्वरूपापेक्षया प्रदर्शितं तदपूर्वमेव प्रतिभाति। प्रसिद्धश्चायं सत्कवीनां मार्गः। इदं च प्रस्थानं कवि–व्युत्पत्तये विषम–बाण–लीलायां स–प्रपञ्चं दर्शितम्। चेतनानां च बाल्याद्यवस्थाभिरन्यत्वं सत्–कवीनां प्रसिद्धमेव। चेतनानामवस्था–भेदेऽप्यवान्तरावस्था–भेदान्नानात्वम्। यथा कुमारीणां कुसुम–शर–भिन्न–हृदयानामन्यासां च। तत्रापि विनीतानामविनीतानां च। अचेतनानां च भावानामारम्भाद्यवस्था–भेद–भिन्नानामेकैकशः स्वरूपमुपनिबध्यमानमानन्त्यमेवोपयाति। यथा–

**हंसानां निनदेषु यैः कवलितैरासज्यते कूजताद्**

**मन्यः कोऽपि कषाय–कण्ठ–लुठनादाघर्घरो विभ्रमः।**

**ते सम्प्रत्यकठोर–वारण–वधू–दन्ताङ्कुर–स्पर्धिनो**

**निर्याताः कमलाकरेषु बिसिनी–कन्दाग्रिम–ग्रन्थयः॥**

एवमन्यत्रापि दिशानयानुसर्तव्यम्।

देश–भेदान्नानात्वमचेतनानां तावत् । यथा वायूनां नाना–दिग्देश–चारिणामन्येषामपि सलिल–कुसुमादीनां प्रसिद्धमेव। चेतनानामपि मानुष–पशु–पक्षि–प्रभृतीनां ग्रामारण्य–सलिलादि–समेधितानां परस्परं महान्विशेषः समुपलक्ष्यत एव। स च विविच्य यथायथमुपनिबध्यमानस्तथैवानन्त्यमायाति। तथा हि– मानुषाणामेव तावद्दिग्देशादि–भिन्नानां ये व्यवहार–व्यापारादिषु विचित्रा विशेषास्तेषां केनान्तः शक्यते गन्तुम्, विशेषतो योषिताम्। उपनिबध्यते च तत्सर्वमेव सुकविभिर्यथाप्रतिभम्।

कालभेदाच्च नानात्वम्। यथर्तुभेदाद्दिग्व्योमसलिलादीनामचेतनानाम्। चेतनानां चौत्सुक्यादयः काल–विशेषाश्रयिणः प्रसिद्धा एव। स्वालक्षण्य–प्रभेदाच्च सकलजगद्गतानां वस्तूनां विनिबन्धनं प्रसिद्धमेव। तच्च यथावस्थितमपि तावदुपनिबध्यमानमनन्ततामेव काव्यार्थस्यापादयति।

अत्र केचिदाचक्षीरन्– यथा सामान्यात्मना वस्तूनि वाच्यतां प्रतिपद्यन्ते न विशेषात्मना तानि हि स्वयमनुभूतानां सुखादीनां तन्निमित्तानां च स्वरूपमन्यत्रारोपयद्भिः स्वपरानुभूत–रूप–सामान्य–मात्राश्रयेणोपनिबध्यन्ते कविभिः। न हि तैरतीतमनागतं वर्तमानञ्च परिचितादिस्वलक्षणं योगिभिरिव प्रत्यक्षीक्रियते ; तच्चानुभाव्यानुभव–सामान्यं सर्व–प्रतिपत्तृ–साधारणं परिमितत्वात्पुरातनानामेव गोचरी–भूतम्, तस्याविषयत्वानुपपत्तेः। अत एव स प्रकारविशेषो यैरद्यतनैरभिनवत्वेन प्रतीयते तेषामभिमानमात्रमेव भणिति–कृतं वैचित्र्य–मात्रमत्रास्तीति।

तत्रोच्यते–यत्तूक्तं सामान्य–मात्राश्रयेण काव्य–प्रवृत्तिस्तस्य च परिमितत्वेन प्रागेव गोचरी–कृतत्वान्नास्ति नवत्वं काव्य–वस्तूनामिति, तदयुक्तम् ; यतो यदि सामान्य–मात्रमाश्रित्य काव्यं प्रवर्तते किं कृतस्तर्हि महा–कवि–निबध्यमानानां काव्यार्थानामतिशयः। वाल्मीकि–व्यतिरिक्तस्यान्यस्य कवि–व्यपदेश एव वा सामान्य–व्यतिरिक्तस्यान्यस्य काव्यार्थस्याभावात्, सामान्यस्य चादिकविनैव प्रदर्शितत्वात् । उक्ति–वैचित्र्यान्नैष दोष इति चेत्– किमिदमुक्ति–वैचित्र्यम् ? उक्तिर्हि वाच्यविशेषप्रतिपादि वचनम्। तद्वैचित्र्ये कथं न वाच्य–वैचित्र्यम् ? वाच्य–वाचकयोरविनाभावेन प्रवृत्तेः। वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद्रूपं तत्तु ग्राह्यविशेषाभेदेनैव प्रतीयते। तेनोक्तिवैचित्र्यवादिना वाच्य–वैचित्र्यमनिच्छताप्यवश्यमे वाभ्युपगन्तव्यम्। तदयमत्र सङ्क्षेपः–

**वाल्मीकि–व्यतिरिक्तस्य यद्येकस्यापि कस्यचित् ।**

**इष्यते प्रतिभार्थेषु तत्तदानन्त्यमक्षयम्॥**

किञ्च, उक्तिवैचित्र्यं यत्काव्य–नवत्वे निबन्धनमुच्यते तदस्मत्–पक्षानुगुणमेव। यतो यावानयं काव्यार्थानन्त्यभेदहेतुः प्रकारः प्राग्दर्शितः स सर्व एव पुनरुक्ति–वैचित्र्याद्द्विगुणतामापद्यते। यश्चायमुपमा–श्लेषादिरलङ्कारवर्गः प्रसिद्धः स भणितिवैचित्र्यादुपनिबध्यमानः स्वयमेवानवधिर्धत्ते पुनः शत–शाखताम्। भणितिश्च स्वभाषाभेदेन व्यवस्थिता सती प्रतिनियत–भाषा–गोचरार्थ–वैचित्र्य–निबन्धनं पुनरपरं काव्यार्थानामानन्त्यमापादयति। यथा ममैव–

**मम मम इति भणतो व्रजति कालो जनस्य।**

**तथापि न देवो जनार्दनो गोचरो भवति मनसः ॥**

**ध्व– ४.७ ॥इति छाया**

## 12.3 सारांश

प्रस्तुत इकाई में ध्वनि के प्रमुख तीन भेदों में रसादि ध्वनि को ज्यादा महत्त्वपूर्ण माना गया है। जैसा कि हम जानते हैं रसादि से तात्पर्य रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबल और भावशान्ति ये आठ भेद किये जाते हैं पर इन सबको पृथक् न मानकर रसादिध्वनि के अन्तर्गत माना जाता है। वस्तुध्वनि और अलङ्कार ध्वनि का प्रयोग रसध्वनि के अनुकूल ही होना चाहिए तभी काव्य उत्कर्ष को प्राप्त करता है। रसध्वनि के प्रसङ्ग में ही आचार्य आनन्दवर्धन काव्य के अङ्गीभूत एवं अङ्गभूत रसों का परीक्षण करने कि विधि बताते हैं और उदाहरण के तौर पर रामायण और महाभारत के अङ्गीरस का प्रकाशन करते हैं। उनका कथन है कि कभी–२ तो कविजन अपने काव्य के अङ्गीरस का संकेत प्रारम्भ में ही कर देते हैं और कहीं पाठक को अपने विवेक से उसका निर्धारण करना होता है। जैसे रामायण का अङ्गीरस करुण है, इसे महर्षि वाल्मीकि ने प्रारम्भ में ही संकेत दे दिया था 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इस उद्घोष के द्वारा और अन्त तक राम सीता का आत्यन्तिक वियोग के द्वारा उसे परिपुष्ट करते हैं। इस प्रकार रामायण में करुणरस का अङ्गीत्व स्पष्ट है। किन्तु महाभारत में शान्त रस को अङ्गीरस प्रमाणित करने के लिए हमें कथानक की परिणति पर सूक्ष्म दृष्टि डालनी पड़ती है। इतने महान् और विकट महापुरुषों का अवसान इतना कष्टदायक हो सकता है तो फिर सामान्य जन की बात ही क्या? एक प्रकार का संसार से वैराग्य भाव उत्पन्न कराना महामुनि व्यास का परम उद्देश्य है। तथा महाभारत में कौरवों पाण्डवों के युद्ध तथा नाना प्रकार के रीति, नीति, आचार, व्यवहार को कवि ने पूर्व पक्ष के रूप में उपस्थापित करके सिद्धान्त पक्ष के रूप में भगवान् कृष्ण का गुणानुकीर्तन करना था। यह बात महाभारत के अन्तिम पर्व हरिवंशवर्णन से सिद्ध होता है।

इसके अतिरिक्त इस इकाई में यह बताया गया कि केवल ध्वनि के प्रयोग से ही वाणी में नवीनता नहीं आती प्रत्युत वाच्यार्थ के द्वारा भी वाणी में अनन्तता आती है। वाच्यार्थ देश काल अवस्था के अनुसार नाना स्वरूप को धारण करता है। एक ही व्यक्ति या वस्तु कालभेद से अवस्थाभेद से तथा देशभेद से नाना स्वरुप को धारण करता है। प्रतिभावान् कवि उसके भिन्न–भिन्न स्वभाव को जानकर यदि वर्णन करता है तो काव्यार्थ में नवीनता तथा आनन्त्य आता है। जैसे कालिदास ने कुमारसम्भव में पार्वती का अवस्था भेद से भिन्न भिन्न तथा आकर्षक वर्णन किया है। इसलिए कवि को यह नहीं सोचना चाहिए कि नया वर्ण्य विषय कहाँ से लायें, वर्त्तमान प्रसङ्गों में ही देशादि के प्रभाव से ध्वनि के आश्रय से वह अपने काव्य में नवीनता का आधान कर सकता है।

## 12.4 शब्दावली

**अङ्गीरस**– प्रधान रस, वह रस जिसे कवि अपने काव्य में आद्योपान्त निबद्ध करता है, और अन्य रसों का प्रयोग भी उसे ही पुष्ट करने के लिए करता है।

**पुरुषार्थ**– शास्त्रसम्मत मानव जीवन के उद्देश्य, सनातन संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार मानव जीवन के पुरुषार्थ माने गये हैं।

**वैराग्य**– अप्रीति, अरुचि, अर्थात् सांसारिक भोग विलास में रुचि का समाप्त हो जाना।

**उक्तिवैचित्र्य**– कहने का प्रकारविशेष, किसी बात को सामान्य ढंग से न कहकर कुछ इस तरह से कहना कि सुनने वाले को प्रभावित करे।

**वाचस्पति**– देवताओं के गुरू वृहस्पति

**हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष**– हाथ में लिया हुआ आँवला जैसे स्पष्ट दिखाई देता है उसके समान किसी विषय वस्तु का प्रत्यक्ष दर्शन।

**काकतालीय न्याय**– संयोगवश घटित घटना

## 12.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

१. ध्वन्यालोकः आनन्दवर्धनाचार्य विरचित, व्याख्याकार–आचार्य जगन्नाथपाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

२. ध्वन्यालोक व्याख्याकार– आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी

३. ध्वन्यालोक लीला संस्कृत हिन्दी व्याख्या सहित, आचार्य लोकमणि दहाल, भारतीयविद्याप्रकाशन, दिल्ली

४. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास पी.वी.काणे, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली

५. ध्वन्यालोक व्याख्याकार के.कृष्णमूर्ति, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली

६. ध्वन्यालोक व्याख्याकार–डाँ रामसागर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली

७. काव्यशास्त्रविमर्श डाँ. कृष्णकुमार, मयङ्क प्रकाशन, कनखल, हरिद्वार

८. ध्वन्यालोक व्याख्याकार– डाँ बालप्रिया टीका समन्वित, काशी संस्कृत सीरिज, वाराणसी

९. ध्वनिसिद्धान्त डाँ, राममूर्तिशर्मा, अजन्ता पब्लिकेशन्स, जवाहरनगर, नई दिल्ली

१०. ध्वन्यालोकविमर्श प्रो. माणिकगोविन्द चतुर्वेदी, अक्षरप्रकाशन, विश्वासनगर दिल्ली

११. आनन्दवर्धन लेखक– प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी, मध्यप्रदेश, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

## 12.6 बोध प्रश्न

१. रसादि ध्वनि से आप क्या समझते है? तथा इनके प्रयोग से वाणी में किस प्रकार नवीनता आती है?

२. अङ्गीरस किसे कहते हैं? और किसी काव्य के अङ्गीरस का निर्धारण किस प्रकार किया जा सकता है?

३. वाच्यार्थ किस प्रकार वाणी में आनन्त्य ला सकता है? विस्तार से लिखिए

४. रामायण का अङ्गीरस करुण है न कि विप्रलम्भ तर्क सहित विवेचित करिये?

५. महाभारत का मुख्य प्रतिपाद्य विषय क्या है? क्यों शान्तरस को इसका अङ्गीरस माना जाना चाहिए?

# इकाई 13 (ध्वन्यालोकः) चतुर्थ उद्योत, कारिका 12 से 17

**इकाई की रूपरेखा**



## 13.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप–

- अवस्थादि के प्रभाव से नानात्व को प्राप्त भी वाच्यार्थ में रस आवश्यक होता है, इसे समझ पायेंगे।
- औचित्यपूर्ण रस का सन्निवेश आवश्यक होता है, इसे समझ पायेंगे।
- प्राकृतिक वर्ण्य विषय में हमेशा नवीनता की सम्भावना बनी रहती है चाहे हजारों कवि कितनी भी रचना करते रहें इसे, समझ पायेंगे।
- संवाद किसे कहते है और वह कितने प्रकार का होता है? यह जान पायेंगे।
- कौन सा संवाद सहृदयजन ग्राह्य होता है? इसे समझ पायेंगे।
- आधुनिक कवियों की वस्तुरचना और अक्षररचना किस प्रकार होनी चाहिए? यह जान जायेंगे।
- पुराने काव्यवस्तु को ग्रहण करते समय कवि को किस बात का ख्याल रखना चाहिए? इसे समझ पायेंगे।
- सर्वथा नवीन रचना की चाह रखने वाले कवि को क्या करना चाहिए? इसे जान पायेंगे।

## 13.1 प्रस्तावना

पूर्व इकाई में यह प्रतिपादित किया गया है कि ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रयोग से पुराने कवियों के भाव भी नवीन रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। और इसे बहुत सारे उदाहरणों के माध्यम से दिखलाया भी गया। प्रस्तुत इकाई मेंयह कहा जायेगा कि न केवल व्यङ्ग्यार्थ से ही अपितु वाच्यार्थ के द्वारा भी अवस्था देश और काल आदि के भेद से वर्णित विषय में नवीनता का सञ्चार कविजन अपनी प्रतिभा के बल से कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त यह जोर देकर कहा जायेगा कि संसार की प्रकृति इतनी विस्तृत है कि सामान्य कवि की तो बात छोड़िए हजारों वाचस्पति मिलकर हजार प्रयत्न करें तो भी उसका समग्र वर्णन करने में समर्थ नहीं हो सकते –

**वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः।**

**निबद्धा सा क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव॥ध्वन्यालोक–४.१०**

एक कवि के भाव को दूसरे कवि द्वारा जो ग्रहण किया जाता है वह कितना उचित है। और किस सीमा तक यह कार्य सहृदयजन द्वारा प्रशंसनीय है, इस बात पर विचार किया जायेगा। ध्वनिकार ने इस प्रक्रिया को 'संवाद' कहा है और उसके तीन प्रकार बतलाये हैं–

**संवादो ह्यन्यसादृश्यं तत्पुनः प्रतिबिम्बवत्।**

**आलेख्याकारवत्तुल्यदेहिवच्च शरीरिणाम्॥ध्वन्यालोक–४.१२**

१. शरीरियों के प्रतिबिम्ब की भाँति २. आलेख्य के आकार की भाँति और ३. तुल्य शरीरी की भाँति। इन तीनों में तीसरा प्रकार सहृदयजन मान्य है, क्योंकि शरीरी अन्य शरीर के सदृश होते हुए भी एक ही है, यह नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त आधुनिक कवियों को सम्बोधित करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं कि कवि को निश्चिन्त होकर काव्यकर्म में प्रवृत्त होना चाहिए। यह नहीं सोचना चाहिए कि मेरे में सहृदयसंवेद्य या फिर नवीन रचना करने का सामर्थ्य नहीं है। क्योंकि कवि के अन्दर जो कुछ नवीन स्फुरित होता है वह अनिन्द्य होता है। और रही बात सर्वथा नवीन रचना करने को तो यह कैसे सम्भव है। कुछ न कुछ तो परम्परा से ग्रहण करना ही पड़ता है। नहीं कुछ तो उस भाषा के अक्षर और शब्द तो ग्रहण करना ही पडेगा। यदि साक्षात् वृहस्पति भी आ जायें काव्य लिखने के लिए तो वो भी क्या नये वर्णमाला की रचना करके नये–नये शब्दों का प्रयोग करेंगे? या उन्हीं अक्षरों या शब्दों का प्रयोग करेंगे। तो जिस प्रकार अक्षरों और शब्दों के प्रयोग को सहृदयजन दोषयुक्त नहीं मानते उसी प्रकार किसी दूसरे के वस्तु को ग्रहण कर उसमें नवीनता का आधान करने से कवि किसी प्रकार दोषयुक्त नहीं माना जा सकता है–

**अक्षरादिरचनेवयोज्यते यत्र वस्तुरचना पुरातनी।**

**नूतने स्फुरति काव्यवस्तुनि व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति॥ध्वन्यालोक–४.१५**

इसके अतिरिक्त परस्वादनेच्छाविरत कवि के लिए काव्य कर्म में भगवती सरस्वती का भी बड़ा योगदान है। कवि जब अपने व्युत्पत्ति और अभ्यास के परिपाक से भगवती सरस्वती की कृपा प्राप्त कर लेता है तो वह काव्यकर्म के समय समग्र काव्यार्थ सामग्रियों को कवि के चित्त में उपस्थित कर देती हैं। इसलिए यदि किसी सुकवि को

महाकवित्व की पदवी प्राप्त करनी हो तो भगवती सरस्वती की कृपा प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है–

**परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवेः**
**सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती।**

इस प्रकार कवियों को दिशानिर्देश देकर आचार्य आन्दवर्धन अपने ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं कि काव्य रूपी नन्दन वन में मेरा यह ध्वनि सिद्धान्त कल्पवृक्ष है। और जिस प्रकार पुण्यात्मा लोग नन्दन वन में कल्पवृक्ष के आश्रयण से समस्त मनोभिलषित कामनाओं को प्राप्त कर लेते हैं ठीक उसी प्रकार कविजन एवं सहृदय सज्जन लोग मेरे ध्वनिसिद्धान्त से समस्त काव्यसम्बन्धी इच्छाओं को पूरा करें।

## 13.2 अवस्थादि के प्रभाव से नानात्व को प्राप्त भी वाच्यार्थ में रस का सन्निवेश आवश्यक, औचित्यपूर्ण रस का सन्निवेश, संवाद का स्वरूप एवं प्रकार, काव्यलेखन की प्रेरणा।

आनन्दवर्धन कहते हैं कि अवस्था आदि से विभिन्न वाच्यों का निबन्धन लक्ष्य में बहुतायत से देखा जाता है। उसका निराकरण नहीं किया जा सकता। बल्कि वह तो रस के आश्रय से शोभा को प्राप्त करता है।काव्य में वाच्य अवस्था देश काल से निबद्ध होकर अनन्तता को प्राप्त कर लेता है इसके बावजूद भी उस काव्य की शोभा रस के आश्रय से ही होती है। इसलिए कवि को रस के प्रयोग में सावधान रहना चाहिए। काव्य कैसा भी हो रस से ही वो सहृदयजनग्राह्य होता है। और रस सन्निवेश भी औचित्य से समन्वित होना चाहिए। इसका तात्पर्य है कि काव्य मे अंगी रस के अनुकुल हि रस प्रयोग करना चाहिए। जैसा प्रसंग हो तदनुकूल रस का प्रयोग हो।इस प्रकार काव्य में रस भाव आदि का प्रयोग कवि करता है तो उसका वर्ण्यविषय अनन्तता को प्राप्त कर लेता है। और एक कवि क्या हजारों वाचस्पति भी मिलकर यत्न करें तो भी उसका वर्ण्य विषय समाप्त नहीं होता। जैसे अनादि काल से चला आ रहा यह संसार प्रकृति द्वारा निर्मित होता रहा है उसके बावजूद भी यह नहीं कहा जा सकता है कि प्रकृति में अब नये पदार्थ उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है ठीक उसी प्रकार कवि अपनी बुद्धि से वाच्यार्थ का अवस्थादि के भेद से औचित्यपूर्वक रस का सन्निवेश काव्य में करता है तो उसके विषय अनन्तता को प्राप्त हो जाते हैं और कवि की व्युत्पत्ति में भी वृद्धि होती है–

**अवस्थादि–विभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम्।**
**भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये तत्तु भाति रसाश्रयात्।।**
**रसभावादिसम्बद्धा यद्यौचित्यानुसारिणी।**
**अन्वीयते वस्तुगतिर्देशकालादिभेदिनी॥**
**वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः।**
**निबद्धा सा क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव॥**
**ध्वन्यालोक–४.८–१०**

प्रायशः कविजन देश, काल, अवस्था को ध्यान में रखकर काव्य में वाच्य का प्रयोग करते हैं पर यह शोभा को तभी धारण करता है जब उसमें रस का सन्निवेश किया गया हो। इसलिए औचित्य के साथ काव्य में रस, भाव इत्यादि का प्रयोग किया जाय तो देश काल अवस्था के भेद से उसमें इतनी अनन्तता आ जाती है कि सामान्य कवियों की तो बात छोड़िये हजारों वाचस्पति मिलकर नाना प्रकार के यत्नों से भी जगत की अनन्त प्रकृति का वर्णन नहीं कर सकते। आशय यह है कि जिस प्रकार जगत की प्रकृति अतीत कल्पों की परम्परा से विचित्र वस्तु प्रपञ्च को आविर्भूत करती है फिर भी हम ये नहीं कह सकते कि अब उसमें नये पदार्थ के निर्माण की शक्ति परिक्षीण हो चुकी है। ठीक उसी प्रकार यह काव्य स्थिति अनन्त कवियों द्वारा वर्णित होने पर भी समाप्त नहीं होता प्रत्युत नई–नई व्युत्पत्तियों से और उसका विस्तार होता है।

एक अन्य विषय को उपस्थापित करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं कि विद्वानों एवं कवियों की काव्यरचना से सम्बन्धित चिन्तन में बहुत सारी समानतायें होती हैं। इसे यह नहीं समझना चाहिए की एक ने दूसरे की वस्तु या भाव को चुराया है। प्रत्युत इसे दूसरे तरीके से समझना चाहिए.

**संवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम्।**

**नैकरूपतया सर्वे ते मन्तव्या विपश्चिता॥**

**ध्वन्यालोक– ४.११**

यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि इसमें क्या प्रमाण है कि कवि ने दूसरे के भाव का अपहरण नहीं किया है? क्योंकि विल्हण आदि कवियों ने अपने काव्यचोरों से अत्यन्त दुखित थे और उन्होने स्पष्ट रूप में लिखा है–

**साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः!**
**यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति।**
**विक्रमाङ्कदेवचरित– १.११**

इसलिए ऐसा कैसे कहा जा सकता है कि दोनों कवियों में निरपेक्ष भाव से एक ही समान किसी वस्तु का स्फुरण हुआ और दोनों ने इसे लिखा इसलिए समानता आ गई। इसी जिज्ञासा के समाधान हेतु १२ वीं कारिका लिखी गई। आनन्दवर्धन कहते हैं कि साम्यता निरपेक्ष ढंग से हुई हो या सापेक्ष यदि भाव में या बन्ध में साम्य है तो उसे हम 'संवाद' कहेंगे। और वह तीन तरीके से हो सकता है– १.शरीरियों के प्रतिबिम्ब की भाँति २. आलेख्य के आकार की भाँति और ३. तुल्य शरीरी की भाँति–

**संवादो ह्यन्य–सादृश्यं तत्पुनः प्रतिबिम्बवत् ।**
**आलेख्याकारवत्तुल्य–देहिवच्च शरीरिणाम्।।**

**संवादो हिकाव्यार्थस्योच्यते यदन्येन काव्य–वस्तुना सादृश्यं। तत्पुनः शरीरिणां प्रतिबिम्बवदालेख्याकारवत्तुल्य–देहिवच्च त्रिधा व्यवस्थितं। किंचिद्धि काव्य–वस्तु वस्त्व–अन्तरस्य शरीरिणः प्रतिबिम्ब–कल्पम, अन्यदालेख्य–प्रख्यम, अन्यत्तुल्येन शरीरिणा सदृशं।**

इस कारिका के प्रथम पाद में संवाद की परिभाषा की गई और शेष तीन पादों में उसके प्रकार बतलाये गए। संवाद की परिभाषा है अन्यसादृश्य अर्थात् जब एक कवि की बुद्धि में आई हुई बात दुसरी कवि के बुद्धि में भी उसी प्रकार स्फुरित हो। अथवा एक की काव्यवस्तु के सदृश ही दुसरे कवि की काव्यवस्तु प्रतीत होती है तो उसे संवाद कहते हैं। और यह सादृश्य या संवाद जैसा की उपर में कहा गया है तीन तरह का होता है। पहला है प्रतिबिम्बवत् अर्थात् जो काव्यवस्तु अपने स्वरूप को प्राप्त कर चुकी है और प्रधान पद पर पर आरूढ हो गई है। उसी काव्यवस्तु को लेकर जब दूसरे काव्य लिखे जाते हैं और भाव में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता अपितु केवल पर्यायवाची शब्दों से वही बात कही जाती है। तब बने हुए काव्यशरीर का प्रतिबिम्ब दूसरे काव्य पर पड़ता है। इसलिए इस प्रकार के काव्य की स्थिति वही होती है जो दर्पण में मानव शरीर के देखने पर उसके प्रतिबिम्ब की होती है। अतः इस तरह का अनुकरण रूप काव्य को प्रतिबिम्बकाव्य कहते हैं।

काव्यमीमांसा में राजशेखर ने प्रतिबिम्बकल्प काव्य की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि जहाँ सभी अर्थ पुराने कवि का ही कहा हो किन्तु वाक्य रचना दूसरे प्रकार की कर दी जाय उसमें तात्त्विक भेद न हो उस काव्य को प्रतिबिम्बकल्प काव्य कहते हैं–

**अर्थः स एव सर्वो वाक्यान्तरविरचनापरं यत्र।**

**तदपरमार्थविभेदं काव्यं प्रतिबिम्बकल्पं स्यात्॥**

**का.मी.१२ अध्याय**

जैसे एक पुराना पद्य है –

**ते पान्तु वः पशुपतेरलिनीलभासः**
**कण्ठप्रदेशघटिताः फणिनः स्फुरन्तः।**
**चन्द्रामृताम्बुकण –सेकसुखप्ररूढै–**
**यैरङ्कुरैरिव विराजति कालकूटः।।**

अर्थात् 'पशुपति के कण्ठ प्रदेश में संलग्न स्फुरित होनेवाले वे सर्प आप लोगों की रक्षा करें। जिनसे कालकूट इस प्रकार शोभित होता है मानों चन्द्र के अमृत रूपी जल के कणों से सींचकर सुखपूर्वक उस कालकूट के अङ्कुर निकल आए हों।'

इसी अर्थ को लेकर एक नवीन पद्य बनाया गया है–

**जयन्ति नीलकण्ठस्य कण्ठे नीला महाहयः ।**
**गलद्गङ्गाम्बुसंसिक्तकालकूटाङ्कुरा इव ।।**

नीलकण्ठ के कण्ठ में लगे हुये बड़े बड़े सर्पों की जय हो, जो कि गिरनेवाले गङ्गाजल से सिंचकर उगे हुये कालकूट के अङ्कुर जैसे प्रतीत होते हैं ।'

यहाँ दोनों पद्यों का अर्थ वही है, केवल शब्दभेद कर दिया गया है। इस प्रकार के काव्य को प्रतिबिम्बकल्प काव्य कहते हैं।

सादृश्य या संवाद काव्य का दूसरा प्रकार होता है 'आलेख्याकारवत्' काव्यरचना । अर्थात् जिस प्रकार किसी मूर्त पदार्थ का कोई चित्र उतार लिया जाता है और वह

चित्र वास्तविक वस्तु के बिल्कुल समानाकार मालूम पड़ता है। उस काव्य को आलेख्याकारवत् कह सकते हैं । आलेख्याकारवत् की परिभाषा काव्यमीमांसा में इस प्रकार दी गई है–

**कियतापि यत्र संस्कारकर्मणा वस्तु भिन्नवद्भाति।**

**तत्कथित –मर्थचतुरैरालेख्यप्रख्यमिति काव्यम्॥**

अर्थात् जहाँ काव्यवस्तु तो पुरानी ही ली जाय किन्तु उसका कुछ थोड़ा सा संस्कार कर दिया जाय जिससे वस्तु भिन्न जैसी प्रतीत होने लगे उस काव्य को अर्थचतुर लोग 'आलेख्यप्रख्य काव्य' कहते हैं। जैसे ऊपर के ही भाव को लेकर एक दूसरा पद्य बनाया गया है –

**जयन्ति धवलव्यालाः शम्भोर्जूटावलम्बिनः ।**

**गलद्गङ्गाम्बुसंसिक्तचन्द्रकन्दाङ्कुरा इव॥**

'शङ्कर जी के जटाजूट में लम्बमान श्वेत सर्पों की जय हो, जो ऐसे शोभित होते हैं मानों गिरनेवाले गङ्गाजल से सींचकर, चन्द्ररूपीमूल से अङ्कुर निकल आए हों।

बात वही है किन्तु अन्तर यह पड़ गया है कि मूल पद्य में चन्द्रामृत को जल माना गया था इसमें गङ्गाजल के द्वारा सिञ्चन का उपादान किया गया है। पहले कृष्ण सर्प थे इसमें श्वेत सर्प हैं, पहले कालकूट के अंकुर थे इसमें चन्द्र के अंकुर हैं। इस प्रकार थोड़ा सा संस्कार कर देने से यह भाव कुछ कुछ नया सा हो गया है। इस प्रकार का काव्य 'आलेख्यप्रख्य' कहलाता है ।

(३) तीसरे प्रकार का काव्य होता है 'तुल्यदेहिवत्' अर्थात् जिस प्रकार दो व्यक्ति एक सी ही आकृतिवाले होते हैं और उन दोनों को देखकर यह कहा जाता है कि दोनों की आकृति एक जैसी ही है। उसी प्रकार भावों के मेल के कारण जहाँ पर यह कहा जाता है कि दोनों पद्य एक जैसे ही हैं उस काव्य को 'तुल्यदेहिवत्' कहते हैं। तुल्यदेहिवत् काव्य की परिभाषा काव्यमीमांसा में यह दी गई है–

**विषयस्य यत्र भेदेऽप्यभेदबुद्धिर्नितान्तसादृश्यात्।**
**तत्तुल्य देहितुल्यं काव्यं निबध्नन्ति सुधियोऽपि।।**

अर्थात् जहाँ विषय का भेद होते हुये भी अत्यन्त सादृश्य के कारण अभेद बुद्धि भासित होने लगती है, उस काव्य को तुल्यदेहिवत् काव्य कहते हैं । इस प्रकार के काव्य का निबन्धन बुद्धिमान् लोग भी करते हैं। उदाहरण के लिए एक पुराना पद्य है–

**अवीनादौ कृत्वा भवति तुरगो यावदवधि**
**पशुधन्यस्तावत् प्रतिवसति यो जीवति सुखम्।**
**अमीषां निर्माणं किमपि तदमूद्दग्धकरिणाम्**
**वनं वा क्षोणीभृद्भवनमथवा येन शरणम्।।**

जो पशु अश्व, भेड़ों को आगे करके जब तक रहता है अपने साथ इन भेडों को भी सुख पहुँचाता है तब तक वह सुखपूर्वक रहता है और जीता भी है ऐसा पशु धन्य है । इन भाररूप नष्ट हाथियों का निर्माण ही कैसा अर्थात् व्यर्थ हुआ जिनका निवास या तो वन में होता है या राजाओं के घर में होता है। आशय यह है कि जो सभी के काम

नहीं आ सकते उनका जीवन व्यर्थ है।' इसी अर्थ को लेकर एक दूसरा पद्य लिखा गया है–

**प्रतिग्रहमुपलानामेक एव प्रकारो**
**मुहुरूपकरणत्वादर्चिताः पूजिताश्च।**
**स्फुरितहतमणीनां किन्तु तद्धाम येन**
**क्षितिपतिभवने वा स्वाकरे निवासः ॥**

प्रत्येक घर में पत्थरों का एक ही प्रकार है जो उपभोग का साधन होने के कारण बार–बार अर्चित किया जाता है और पूजा जाता है। किन्तु इन अभागिन मणियों का एक अद्वितीय प्रकाश स्फुरित हो रहा है। जिससे उनका निवास या तो राजभवनों में होता है या अपनी खानों में ही होता है ।

यहाँ पर दोनों पद्यों का निष्कृष्टार्थ एक ही है, जीवन उसी का धन्य है जो सभी का उपकार करता है, किन्तु इस अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिये जिन विषयवस्तुओं का उपादान किया गया है वे दोनों परस्पर भिन्न हैं। इस प्रकार विभिन्न वस्तुएँ ऐसी मालूम पड़ती हैं जैसे दो शरीरी अत्यन्त सादृश्य के कारण एक जैसे मालूम पड़ते हैं। अतः यह प्रकार तुल्यदेहितुल्य कहा जा सकता है ।

इस प्रकार १२ वीं कारिका में सम्वाद का स्वरूप और उसके प्रकार की चर्चा की गई। अब आगे की कारिका में उसकी उपादेयता पर विचार प्रस्तुत करते हैं–

**तत्र पूर्वमनन्यात्म तुच्छात्म तदनन्तरम्।**
**तृतीयं तु प्रसिद्धात्म नान्य–साम्यं त्यजेत्कविः।।**

**तत्र पूर्वं प्रतिबिम्ब–कल्पं काव्य–वस्तु परिहर्तव्यं सुमतिना। यतस्तद्–अनन्यात्म तात्त्विक–शरीर–शून्यं। तद्–अनन्तरं आलेख्य–प्रख्यं अन्य–साम्यं शरीरान्तर–युक्तं अपि तुच्छात्मत्वेन त्यक्तव्यं। तृतीयं तु विभिन्न–कमनीय–शरीर–सद्भावे सति ससंवादं अपि काव्य–वस्तु न त्यक्तव्यं कविना। न हि शरीरी शरीरिणान्येन सदृशोऽप्येक एवेति शक्यते वक्तुं।**

**ध्वन्यालोकः– ४.१३**

भाव है कि सम्वाद के तीनों प्रकार में पहला जो प्रकार है प्रतिबिम्बवत् वह अनन्यात्म रूप है अर्थात् दोनों में कोई भेद नहीं है दोनों की आत्मा ही एक है। इसलिए कवि को ऐसे सादृश्य से बचना चाहिए। और दूसरा जो प्रकार है आलेख्याकारवत् वह है तुच्छात्म अर्थात् अन्य का साम्य वाला अन्य शरीर से युक्त होकर भी तुच्छरूप होता है। इसलिए बुद्धिमान कवि ऐसे तुच्छ सादृश्य से जरूर बचे। और तीसरा है 'तुल्यदेहिवत्' अर्थात् शरीरी अन्य शरीर से एक सदृश होने पर भी दोनों एक हैं यह नहीं कहा जा सकता। इसलिए ऐसे सादृश्य को सहृदयजन स्वीकार करते हैं फलतः ऐसे सम्वाद को कविजन जरूर महत्व दें। ऐसे सम्वाद कवि के काव्य के लिए उत्कर्षाधायक है।

इस प्रकार प्रतिबिम्बकल्प और आलेख्यप्रख्य रचना करने से कवि निन्दनीय हो जाता है, किन्तु यदि तुल्यदेहिवत् रचना की जाय तो कवि को दोष नहीं होता। उसी बात को आगे की कारिका में सिद्ध किया जा रहा है कि तुल्यदेहिवत् काव्यरचना करने में कवि को दोष नहीं होता–

**आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि।**

**वस्तु भातितरां तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम्॥१४॥**

**तत्त्वस्य सार–भूतस्यात्मनः सद्–भावेऽन्यस्य पूर्व–स्थित्य–अनुयाय्यपि वस्तु भातितराम्।**

**पुराण–रमणीय–च्छायानुगृहीतं हि वस्तु शरीरवत्परां शोभां पुष्यति। न तु पुनरुक्तत्वेनावभासते। तन्व्याः शशि–च्छायम् इवाननम्**

अन्य आत्मा के सद्भाव में अन्य की पूर्व स्थिति का अनुसरण करने वाला भी काव्यार्थ चन्द्रमा की छाया के सदृश तन्वी के मुख की भाँति अधिकतर शोभा देता है।

कारिका का सार यह है कि 'काव्य की आत्मा दूसरी होनी चाहिये । आत्मा का अर्थ है तत्त्व अथवा सार। यदि इस प्रकार की आत्मा में तादात्म्य नहीं होता तो वह काव्य नवीन ही कहा जाता है। फिर चाहे उस काव्य का निर्माण किसी पुराने काव्य की छाया पर ही हुआ हो। जैसे सुन्दरियों के मुख चन्द्र के समान हुआ करते हैं। उनमें भी पूर्णचन्द्र की जैसी आकृति और वैसी ही रमणीयता विद्यमान रहती है किन्तु उनमें लावण्य का भेद होता है । नायिकाओं के मुख पर एक ऐसी यौवनजन्य चमक और आह्लादकता होती है जैसी चन्द्र में नहीं होती। चन्द्र का लावण्य दूसरे ही प्रकार का होता है। इस प्रकार यद्यपि नायिकाओं के मुख का निर्माण पूर्णचन्द्र के जैसा ही हुआ है फिर भी लावण्य का भेद होने के कारण यह कोई नहीं कहता कि चन्द्र और मुख दोनों एक ही वस्तु हैं। ठीक उसी प्रकार तुल्यदेहिवत् काव्य एक होते हुए भी भिन्न होते है। इसलिए ऐसी रचना करने में कवि को सङ्कोच नहीं करनी चाहिए।

इस प्रकार संवाद से युक्त समुदायरूप वाक्यार्थों की सीमाएँ विभक्त हो गई हैं। अर्थात् वाक्यार्थ जो कि शब्दार्थसमुदायरूप होते हैं यदि एक दूसरे से मेल खा रहे हो अर्थात् एक कवि का शब्दार्थसमुदायरूप वाक्यार्थ दूसरे कवि के शब्दार्थसमुदायरूप वाक्यार्थ से मेल खा रहा हो तो उसकी सीमायें क्या क्या होती हैं? और कौन सा प्रकार उपादेय है? तथा कौन सा प्रकार त्याज्य है? यदि काव्यवस्तु पदार्थ की दिशा में दूसरी वस्तु के समान हो तो उसके मेल खाने में पौनरुक्त्य इत्यादि दोष नहीं होते हैं। इसी को बताने के लिए निम्न कारिका अवतरित हुई है–

**एवं तावत्स–संवादानां समुदाय–रूपाणां वाक्यार्थानां विभक्ताः सीमानः । पदार्थ–रूपाणां च वस्त्वन्तर–सदृशानां काव्य–वस्तूनां नास्त्येव दोष इति प्रतिपादयितुम् उच्यते–**

**अक्षरादि–रचनेव योज्यते यत्र वस्तु–रचना पुरातनी।**

**नूतने स्फुरति काव्य–वस्तुनि व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति॥**

**ध्वन्यालोकः– ४.१५**

जिस प्रकार पुराने अक्षरों एवं शब्दों का प्रयोग किये जाने पर यह कोई नहीं कहता कि कवि ने कोई नई बात नहीं कही है। पुराने अक्षरों और पदों का प्रयोग नवीनता का विरोधी नहीं होता। उसी प्रकार जब नवीन रूप में स्फुरित होनेवाली काव्यवस्तु में पुरानी वस्तुरचना संयोजित की जाती है तब स्पष्ट ही उसमें पौनरुक्त्य का दोष नहीं होता ।

जैसे वाचस्पति भी कुछ लिखना चाहें तो वे भी उन्हीं पुराने अक्षरों और शब्दों का प्रयोग करेंगे नवीन अक्षर या शब्दों की रचना नहीं कर सकते। और जिस प्रकार पुराने अक्षरों एवं शब्दों के प्रयोग करने पर भी कोई भी आलोचक यह नहीं कहता कि ये तो अनुकरण है या इसमें कोई नवीनता नहीं है। ठीक उसी प्रकार कवि शब्दों के अर्थों और श्लेष इत्यादि के क्षेत्र में परम्परा का ही पालन करता रहता है और पुराने अर्थों को ही लिखता रहता है फिर भी उसकी नवीनता त्रुटित नहीं होती।इसलिए–

**न हि वाचस्पतिनाप्यक्षराणि पदानि वा कानिचिदपूर्वाणि घटयितुं शक्यन्ते । तानि तु तान्येवोपनिबद्धानि न काव्यादिषु नवतां विरुध्यन्ति । तथैव पदार्थ–रूपाणि श्लेषादि–मयान्यर्थ–तत्त्वानि । तस्मात्–**

**यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्**
**स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते।**
**अनुगतमपि पूर्व–च्छायया वस्तु तादृक्**
**सुकविरुपनिबध्नन्निन्द्यतां नोपयाति। ।**
**ध्वन्यालोकः– ४.१६**

जहाँ लोक की यह बुद्धि उत्पन्न होती है कि यह कुछ स्फुरित हुआ है वह चाहे जो हो रमणीय होता है। और नवीन स्फुरण होने से सहृदयों में चमत्कार भी उत्पन्न करता है। सुकवि उस प्रकार की वस्तु को पूर्वच्छाया के रूप में भी उपनिबद्ध करते हुए निन्द्यता को प्राप्त नहीं होता।

तात्पर्य है कि जिस कविता को पढ़कर सहृदयों की बुद्धि में यह आभासित होने लगे कि इस कविता में कुछ स्फुरित हुआ है वह चाहे पुराना हो चाहे नया, रमणीय ही कहा जायेगा । 'कुछ स्फुरित' होने का आशय यह है कि जिसको पढ़कर सहृदय लोग चमत्कृत हो जायँ अर्थात् सहृदयों की बुद्धि में आस्वाद उत्पन्न हो जाय । तात्पर्य यह है कि रमणीयता का एकमात्र आधार है सहृदयों को आस्वादमय चमत्कार की अनुभूति । यदि यह अनुभूति उत्पन्न हो जाती है तो इस बात का कोई महत्व नहीं रह जाता कि उस अनुभूति का साधन क्या है ? क्या वह कोई अर्थ है या पुराना ? इन प्रश्नों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता । अतएव यदि कवि ऐसी वस्तु का उपनिबन्धन करता है जो आस्वादमय चमत्कार को उत्पन्न करती हैं तो फिर वह चाहे पुरानी छाया से अनुगत ही क्यों न हो उस कवि की निन्दा नहीं होती।

आगे आनन्दवर्धन नवोदित कवियों को निर्देशित करते हुए लिखते हैं कि कवियों को चाहिए की वे अमृत रस के तुल्य विविध अर्थों वाली वाणियों का प्रसार करे। उसे अपनी वाणी की अनवद्यता अर्थात् असमर्थता या फिर असहृदयसंवेद्यता को लेकर मन में अवसादग्रस्त नहीं होना चाहिए। और नये अर्थ तो हैं ही इसलिए दूसरे के काव्यार्थ को लेकर काव्य करने से क्या फायदा है ऐसा सोचने वाले कवि अर्थात् दूसरे के विषय को ग्रहण की इच्छा न करने वाले स्वाभिमानी सुकवि को भी भगवती सरस्वती उनकी बुद्धि में नवीन समस्त इच्छित काव्यार्थों को उपस्थित कर देती है–

**प्रतायन्तां वाचो निमितविविधार्थामृतरसा**
**न सादः कर्तव्यः कविभिरनवद्ये स्वविषये।**
**परस्वादानेच्छा विरतमनसो वस्तु सुकवेः**
**सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती ।।**

**पर–स्वादानेच्छाविरत–मनसः सुकवेः सरस्वत्येषा भगवती यथेष्टं घटयति वस्तु। येषां सुकवीनां प्राक्तन–पुण्याभ्यास–परिपाक–वशेन प्रवृत्तिस्तेषां परोपरचितार्थ–परिग्रह–निःस्पृहाणां स्व–व्यापारो न क्वचिदुपयुज्यते। सैव भगवती सरस्वती स्वयमभिमतम् अर्थमाविर्भावयति। एतदेव हि महाकवित्वं महाकवीनाम् इति ॐ।**

**ध्वन्यालोक– ४.१७**

तात्पर्य है कि कवि को निश्शंक होकर अपनी कवित्व शक्ति का विस्तार करना चाहिए। जो कुछ भी हृदय में स्फुरित हो उसको निःसंकोच भाव से व्यक्त करना चाहिये। बस उसे यह ध्यान रखना चाहिये कि उसकी वाणी से जो वर्ण या शब्द निकले वे अर्थगर्भित हों और प्रत्येक अर्थ अमृत के समान काव्यरस से ओतप्रोत हो। उसको यह समझ लेना चाहिये कि कविता का अनन्त क्षेत्र हो सकता है और कवि के असंख्य विषय हो सकते हैं । कोई भी विषय कवि की वाणी में आकर निन्दनीय नहीं रह जाता । अतः कवि को अपने मन में अवसाद नहीं आने देना चाहिये कि उसकी वाणी निम्न कोटि की है, अथवा उसकी वाणी में नवीनता नहीं है, या उसकी बाणी सहृदय संवेद्य नहीं है । उसे यह समझकर भी मन में अवसाद नहीं आने देना चाहिए कि 'नये काव्यार्थ विद्यमान हैं ही इसलिए पुराने अर्थों को लेकर कविता करने में कवि की क्या विशेषता ? साथ ही जिन लोगों को यह दृढ धारणा बन गई है कि नवीन अर्थ के लिखने में ही कवि का गौरव होता है पुराना अर्थ लिखना उसके लिये व्यर्थ है उन्हें भी यह समझकर निराश नहीं होना चाहिये कि अब हम नया अर्थ कहाँ से लायें। क्योंकि यदि उनकी यह धारणा बन जायेगी तो या तो वे काव्यक्रिया से विमुख हो जायेंगे या दूसरों के बनाये हुए काव्य को आश्रय लेकर उसी के अधीन कविता करने लगेंगे । ये दोनों स्थितियाँ श्रेयस्कर नहीं हैं। न तो उनका काव्यक्रिया को छोड़ बैठना ही वाञ्छनीय है और न सर्वथा परमुखापेक्षी हो जाना ही उचित है। ऐसी दशा में या तो काव्यरचना होगी ही नहीं या यदि होगी भी तो प्रतिबिम्बकल्प अथवा आलेख्यवत् होगी। आनन्दवर्धन लिखते हैं ऐसे कवियों को भी निराश होने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि भगवती सरस्वती में अपूर्व शक्ति है। वे ऐसे लोगों के हृदय में स्वयं ही उस समस्त नवीन अर्थ–समूह को उपस्थित कर देती हैं, जो कि एक कवि के लिये वाञ्छनीय होता है। जिन कवियों की काव्य में प्रवृत्ति या तो पूर्वजन्म के सञ्चित पुण्यों के प्रभाव से होती है या अभ्यास का पूरा परिपाक कर लेने पर होती है तथा दूसरों के रचे हुये अर्थ का उपादान करना ही नहीं चाहते उनको यह आवश्यकता नहीं होती कि वे स्वयं अपने प्रयत्न से नवीन अर्थों की कल्पना करें। यह तो भगवती सरस्वती की उन पर अनुकम्पा का ही प्रभाव है कि उन्हें नये–नये अर्थ एकदम दृष्टिगत हो जाते हैं। भगवती सरस्वती की इस प्रकार की कृपा प्राप्त कर लेना ही महाकवियों का महाकवित्व है।

इस प्रकार कवियों को निर्देशित करते हुए आनन्दवर्धनाचार्य अपने ग्रन्थ का 'ओम्' इस महामन्त्र से अन्त में मङ्गलाचरण करते है। क्योंकि 'मङ्गलादौ मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि भवन्त्यायुष्मत्पुरुषाणि भवन्ति अध्येतारश्च वृद्धियुक्ताः स्युः' यह महाभाष्यकार का वचन है। इस प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए यह ग्रन्थ के अन्त में मङ्गलाचरण का व्यवहार किया है। इसके बाद दो और श्लोक से आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण करते हैं–

**इत्यक्लिष्ट–रसाश्रयोचित–गुणालङ्कार–शोभा–भृतो**
**यस्माद्वस्तु समीहितं सुकृतिभिः सर्वं समासाद्यते।**
**काव्याख्येऽखिल–सौख्य–धाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः**
**सोऽयं कल्पतरूपमान–महिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम्॥**

अर्थात् कष्ट रहित, रस के आश्रय से उचित, गुण और अलङ्कार की शोभा वाले जिस काव्य रूपी स्वर्ग के उद्यान के कल्पवृक्ष से सुकृती लोग समस्त अभीष्ट वस्तु को प्राप्त कर लेते हैं। उसी प्रकार समस्त सुख के धाम इस काव्य नामक नन्दनवन में कल्पवृक्ष की भाँति महिमा को धारण करने वाला यह ध्वनिसिन्द्धान्त सौभाग्यशाली लोगों द्वारा उपभोग का विषय बने।

प्रस्तुत् पद्य में काव्य पर नन्दनवन का आरोप किया गया है और ध्वनि को कल्पवृक्ष की उपमा दी गई है। यहाँ पर कई शब्द द्वयर्थक हैं–(१) रस= काव्य रस तथा जल, (२) गुण= माधुर्यादि तथा सौकुमार्य इत्यादि, (३) अलङ्कार= उपमा इत्यादि तथा सीमा तक पहुँचा देना, ( अलम् अर्थात् समाप्ति और कार अर्थात् करना), (४) समीहितवस्तु= व्युत्पत्ति, कीर्ति, प्रीति इत्यादि तथा मनचाही वस्तु, (५) सुकृति= काव्यतत्त्ववेत्ता सहृदय तथा समीहित की प्राप्ति के लिये ज्योतिष्टोम इत्यादि यज्ञ करनेवाले, (६) विबुध= विद्वान् तथा देवता । यहाँ पर देवोद्यान नन्दन अप्रस्तुत है और काव्य प्रस्तुत है। यहाँ पर उपमानोपमेयभाव के अनुसार इस पद्य का यह अर्थ होगा– जिस प्रकार विना कष्ट के प्राप्त रस = जल से सींचने से देवोद्यान सभी वाञ्छनीय गुणों को प्राप्त कर लेता है। तथा पुण्यात्मा लोग उस नन्दनवन से अपनी मनचाही वस्तु प्राप्त कर लेते हैं। उसी प्रकार नन्दनोद्यान की भाँति इस काव्यजगत् में गुणों और अलङ्कारों का प्रयोग रस निष्पत्ति के अनुकूल होता है। और जिस प्रकार नन्दनवन से पुण्यात्माओं को सब कुछ मिल जाता है उसी प्रकार सहृदय को काव्य से व्युत्पत्ति, कीर्ति, प्रीति इत्यादि सभी कुछ प्राप्त हो जाता है।

अगले श्लोक में आनन्दवर्धन ने साहित्यशास्त्र में अपने योगदान को अत्यन्त शिष्टता के साथ प्रस्तुत करते हैं–

**सत्–काव्य–तत्त्व–नय–वर्त्म–चिर–प्रसुप्त–**
**कल्पं मनःसु परिपक्व–धियां यदासीत् ।**
**तद्व्याकरोत्सहृदयोदय–लाभ–हेतो–**
**रानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः॥**

अर्थात् उत्तम काव्य रचना का तत्त्व और नीति का जो मार्ग परिपक्व बुद्धि वाले सहृदय विद्वानों के मन में चिर काल से प्रसुप्त के समान अर्थात् अव्यक्त रूप में स्थित था, उसे सहृदयों की अभिवृद्धि और लाभ के लिए मैं आनन्दवर्धन इस नाम से प्रसिद्ध उस तत्त्व को प्रकाशित किया।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने इस श्लोक के माध्यम से फिर एक बार अनुबन्धचतुष्टय की ओर भी संकेत किया है जैसे निगूढ तत्व का प्रकाशन विषय है, सहृदयों को उदय प्रदान करना यह ग्रन्थ का प्रयोजन है। सहृदय उसके अधिकारी हैं। और काव्यसम्बन्धी अन्य तत्त्व विषय से सम्बद्ध है और इस प्रकार अनुबन्ध चतुष्टय के साथ ग्रन्थ की पूर्णता होती है ।

**मूलपाठः–**

इत्थं यथा यथा निरूप्यते तथा तथा न लभ्यतेऽन्तः काव्यार्थानाम्। इदं तूच्यते–

**अवस्थादि–विभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम्।**

यत्प्रदर्शितं प्राक्

**भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये–**

न तच्छक्यमपोहितुम्।

**–तत्तु भाति रसाश्रयात् ॥**ध्वन्यालोकः– ४.८॥

तदिदमत्र सङ्क्षेपेणाभिधीयते सत्कवीनामुपदेशाय–

**रस–भावादि–सम्बद्धा यद्यौचित्यानुसारिणी।**

**अन्वीयते वस्तु–गतिर्देश–कालादि–भेदिनी ॥**

ध्वन्यालोकः– ४.९॥

तत्का गणना कवीनामन्येषां परिमितशक्तीनाम्–

**वाचस्पति–सहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः।**

**निबद्धा सा क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव ॥**

ध्वन्यालोकः– ४.१०॥

यथा हि जगत्प्रकृतिरतीत–कल्प–परम्पराविर्भूत–विचित्र–वस्तु–प्रपञ्चा सती पुनरिदानीं परिक्षीणा पर–पदार्थ–निर्माण–शक्तिरिति न शक्यतेऽभिधातुम्। तद्वदेवेयं काव्य–स्थितिरनन्ताभिः कवि–मतिभिरुपभुक्तापि नेदानीं परिहीयते, प्रत्युत नव–नवाभिर्व्युत्पत्तिभिः परिवर्धते। इत्थं स्थितेऽपि

**संवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम्।**

स्थितं ह्येतत्संवादिन्य एव मेधाविनां बुद्धयः।किन्तु–

**नैक–रूपतया सर्वे ते मन्तव्या विपश्चिता ॥**

ध्वन्यालोकः– ४.११॥

कथमिति चेत्–

**संवादो ह्यन्यसादृश्यं तत्पुनः प्रतिबिम्बवत्।**
**आलेख्याकारवत्तुल्य–देहिवच्च शरीरिणाम्॥**

ध्वन्यालोकः– ४.१२॥

संवादो हि काव्यार्थस्योच्यते यदन्येन काव्य–वस्तुना सादृश्यम्। तत्पुनः शरीरिणां प्रतिबिम्बवदालेख्याकारवत्तुल्य–देहिवच्च त्रिधा व्यवस्थितम्। किञ्चिद्धि काव्यवस्तु वस्त्वन्तरस्य शरीरिणः प्रतिबिम्ब–कल्पम्, अन्यदालेख्य–प्रख्यम्, अन्यत्तुल्येन शरीरिणा सदृशम्।

**तत्र पूर्वमनन्यात्म तुच्छात्म तदनन्तरम्।**

**तृतीयं तु प्रसिद्धात्म नान्य–साम्यं त्यजेत्कविः ॥**

ध्वन्यालोकः– ४.१३॥

तत्र पूर्वं प्रतिबिम्ब–कल्पं काव्य–वस्तु परिहर्तव्यं सुमतिना। यतस्तदनन्यात्म तात्त्विक–शरीर–शून्यम्। तदनन्तरमालेख्य–प्रख्यमन्य–साम्यं शरीरान्तर–युक्तमपि तुच्छात्मत्वेन त्यक्तव्यम्। तृतीयं तु विभिन्न–कमनीय–शरीर–सद्भावे सति ससंवादमपि काव्य–वस्तु न त्यक्तव्यं कविना। न हि शरीरी शरीरिणान्येन सदृशोऽप्येक एवेति शक्यते वक्तुम्। ध्व– ४.१३ ॥एतदेवोपपादयितुमुच्यते–

**आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे पूर्व–स्थित्यनुयाय्यपि।**

**वस्तु भातितरां तन्व्याः शशि–च्छायमिवाननम्॥**

ध्वन्यालोकः–४.१४॥

तत्त्वस्य सार–भूतस्यात्मनः सद्–भावेऽन्यस्य पूर्व–स्थित्यनुयाय्यपि वस्तु भातितराम्। पुराण–रमणीयच्छायानुगृहीतं हि वस्तु शरीरवत्परां शोभां पुष्यति। न तु पुनरुक्तत्वेनावभासते। तन्व्याः शशिच्छायमि वाननम्। ध्वा– ४.१४॥

एवं तावत्ससंवादानां समुदाय–रूपाणां वाक्यार्थानां विभक्ताः सीमानः। पदार्थ–रूपाणां च वस्त्वन्तर–सदृशानां काव्य–वस्तूनां नास्त्येव दोष इति प्रतिपादयितुमुच्यते–

**अक्षरादि–रचनेव योज्यते यत्र वस्तु–रचना पुरातनी।**
**नूतने स्फुरति काव्य–वस्तुनि व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति ॥**

ध्वन्यालोकः– ४.१५॥

न हि वाचस्पतिनाप्यक्षराणि पदानि वा कानिचिदपूर्वाणि घटयितुं शक्यन्ते। तानि तु तान्येवोपनिबद्धानि न काव्यादिषु नवतां विरुध्यन्ति। तथैव पदार्थ–रूपाणि श्लेषादि–मयान्यर्थ–तत्त्वानि। तस्मात्–

**यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किंचित्**

**स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते।**

स्फुरणेयं काचिदिति सहृदयानां चमत्कृतिरुत्पद्यते।

**अनुगतमपि पूर्व–च्छायया वस्तु तादृक्**

**सुकविरुपनिबध्नन्निन्द्यतां नोपयाति ॥**

ध्वन्यालोकः–४.१६॥

तदनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्तादृक्षं सुकविर्विवक्षित–व्यङ्ग्य–वाच्यार्थ–समर्पण–समर्थ–शब्द–रचना–रूपया बन्ध–च्छाययोपनिबध्नन्–निन्द्यतां नैव याति। तदित्थं स्थितम्–

**प्रतायन्तां वाचो निमित–विविधार्थामृत–रसा**

**न सादः कर्तव्यः कविभिरनवद्ये स्व–विषये।**

सन्ति नवाः काव्यार्थाः परोपनिबद्धार्थ–विरचने न कश्चित्कवेर्गुण इति भावयित्वा।

**परस्वादानेच्छा–विरत–मनसो वस्तु सुकवेः**

**सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती ॥**

ध्वन्यालोकः—४.१७॥

पर—स्वादानेच्छाविरत—मनसः सुकवेः सरस्वत्येषा भगवती यथेष्टं घटयति वस्तु। येषां सुकवीनां प्राक्तन—पुण्याभ्यास—परिपाक—वशेन प्रवृत्तिस्तेषां परोपरचितार्थ—परिग्रह—निःस्पृहाणां स्व—व्यापारो न क्वचिदुपयुज्यते। सैव भगवती सरस्वती स्वयमभिमतमर्थमाविर्भावयति। एतदेव हि महाकवित्वं महाकवीनामित्योम्।

**इत्यक्लिष्ट—रसाश्रयोचित—गुणालङ्कार—शोभा—भृतो**
**यस्माद्वस्तु समीहितं सुकृतिभिः सर्वं समासाद्यते।**
**काव्याख्येऽखिल—सौख्य—धाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः**
**सोऽयं कल्पतरूपमान—महिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम्॥**

**सत्—काव्य—तत्त्व—नय—वर्त्म—चिर—प्रसुप्त—**
**कल्पं मनस्सु परिपक्व—धियां यदासीत्।**
**तद्व्याकरोत्सहृदयोदयलाभहेतोदृ**
**रानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः॥**

## 13.3 सारांश

प्रस्तुत इकाई में बतलाया गया कि काव्य में वाच्य, अवस्था देश काल से निबद्ध होकर अनन्तता को प्राप्त कर लेता है इसके बावजूद भी उस काव्य की शोभा रस के आश्रय से ही होती है। इसलिए कवि को रस के प्रयोग में सावधान रहना चाहिए। काव्य रस से ही सहृदयजनग्राह्य होता है। और रस सन्निवेश भी औचित्य से समन्वित होना चाहिए। जैसे अनादि काल से प्रकृति द्वारा निर्मित यह संसार अपनी नवीनता को बनाये हुए है उसी प्रकार कविजन अपनी प्रतिभा के बल से वाच्यार्थ के अवस्थादि के प्रभाव से रस के औचित्यपूर्ण सन्निवेश से काव्य में नवीनता का संचार कर देता है। और एक कवि क्या हजारों वाचस्पति भी मिलकर यत्न करें तो भी उसका वर्ण्य विषय समाप्त नहीं होता। जैसे अनादि काल से चला आ रहा यह संसार प्रकृति द्वारा निर्मित होता रहा है उसके बावजूद भी यह नहीं कहा जा सकता है कि प्रकृति में अब नये पदार्थ उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है ठीक उसी प्रकार कवि अपनी बुद्धि से वाच्यार्थ का अवस्थादि के भेद से औचित्यपूर्वक रस का सन्निवेश काव्य में करता है तो उसके विषय अनन्तता को प्राप्त हो जाते हैं और कवि की व्युत्पत्ति में भी वृद्धि होती है।

इसके अतिरिक्तसंवाद की परिभाषा दी गई है **'संवादो ह्यन्यसादृश्यम्'** अर्थात् जब कवियों की बुद्धि में एक जैसे भाव का स्फुरण होता है और वह काव्यरूप में उपनिबद्ध हो जाते हैं तो दोनों की काव्यवस्तु एक जैसी प्रतीत होने लगती है। इसे ही संवाद या सादृश्य कहते हैं। यह संवाद तीन प्रकार का होता है— १. शरीरियों के प्रतिबिम्ब की भाँति २. आलेख्य के आकार की भाँति और ३. तुल्य शरीरी की भाँति। इसमें पहला जो प्रकार है उसमें दोनों काव्य का आत्मतत्त्व एक ही होता है। जैसे शीशे के सामने कोई व्यक्ति खड़ा होता है और उसका प्रतिबिम्ब ठीक उसके जैसा दिखता है वैसे ही इस तरह का काव्य हूबहू उपजीव्य जैसा दिखता है। इसलिए इस तरह का काव्य सहृदयजन ग्राह्य नहीं होता। दूसरा प्रकार है 'आलेख्य के आकार की भाँति' इसमें

कवि पूर्व काव्य का इस प्रकार अनुकरण करता है कि आत्मा तो नहीं किन्तु पूरा शारीरिक ढाँचा एक जैसा दिखता है। जैसे कोई चित्रकार किसी व्यक्ति को देखकर उसका चित्र बनाता है तो उस चित्र को देखकर यह कोई नहीं कह सकता है कि यह चित्र उस व्यक्ति का नहीं है अपितु चित्र को ही लोग उस व्यक्ति की अनुपस्थिति में प्रस्तुत करते हैं। जैसे रामायण में सीता की अनुपस्थिति में उनकी मूर्ति को स्थापित करके राम ने यज्ञ का अनुष्ठान किया था। इस प्रकार इस तरह के संवाद को भी तुच्छात्म शब्द से कहा गया है इसलिए कवि को ऐसे संवाद से बचना चाहिए। इन तीनों में तीसरा प्रकार 'तुल्यदेहिवत्' अर्थात् तुल्य शरीरी की भाँति है इसमें सादृश्य वैसा होता है जैसे दो व्यक्ति आकृति एक जैसी मिलती है पर दोनों एक दूसरे से भिन्न होते हैं। ठीक उसी प्रकार दोनों काव्य एक जैसे होने पर भी भिन्न होते हैं इस तरह का सादृश्य सहृदयजन मान्य है।

और भी यदि कवि को या फिर सहृदय को लगे कि यह काव्य में यह नया स्फुरण है तो फिर भले ही कवि ने अनुकरण से काव्य की रचना की है उसे निन्द्य नहीं माना जा सकता है। जिस प्रकार सभी कवि पुराने अक्षर, और शब्द का प्रयोग करते हैं फिर भी कोई आलोचक उन्हें ये नही कहता कि इन्होंने उन्हीं अक्षरादि की प्रयोग किया कुछ नया नहीं लिखा ठीक उसी प्रकार कवि द्वारा पुराने काव्यार्थ को लेकर यदि नवीनता का आधान किया जाता है तो वह कथमपि निन्दा के योग्य नहीं है अपितु प्रशंसनीय़ होता है। आगे आनन्दवर्धन ने कवियों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि कवि को निःसंकोच होकर काव्य की रचना करनी चाहिए यह नहीं सोचना चाहिए कि हममें नई बात कहने का सामर्थ्य नहीं है या मैं सहृदयसंवेद्य रचना करने में असमर्थ हूँ। कवि को चाहिए वह पुराने और प्रसिद्ध कवियों के काव्यवस्तुओं का तुल्यदेहिवत् सादृश्य की तरह अनुकरण करे और अपने काव्य को सहृदयजनग्राह्य बनाये। जो कवि पुराने कवियों से कुछ भी ग्रहण नहीं करना चाहते ऐसे कवियों के लिए आनन्दवर्धन दिलासा दिलाते है कि उन्हें भी परेशान होने की जरुरत नहीं है भगवती सरस्वती ऐसे अभिमानी कवि के लिए वो सभी काव्यसामग्रियाँ उसके मन मस्तिष्क में उपस्थित कर देती है। कवि को अपने अन्दर ऐसी योग्यता अर्जित करनी चाहिए की माँ सरस्वती की कृपा उसे प्राप्त हो सके। तभी वह कवि से महाकवित्व की पदवी को धारण कर सकता है। और इसी के साथ ऊँ इस प्रणव से ग्रन्थ का अन्तिम मङ्गलाचरण करते है। और फिर दो आशीर्वादात्मक पद्यों से ग्रन्थ का उपसंहार करते है। प्रथम पद्य में वे कवियों सहृदयों का आह्वान करते हैं कि नन्दनवन में कल्पवृक्ष से सुकृतिजन जिस प्रकार वाञ्छित मनोकामनाओं को प्राप्त करते हैं उसी प्रकार आप सभी भी काव्य में विद्यमान इस ध्वनितत्त्व से काव्यसम्बन्धी सभी इच्छाओं को पूरा करें और दूसरे पद्य में आनन्दवर्धन ने अपने काव्यशास्त्रीय योगदान को बड़ी ही विनम्रता से प्रस्तुत करते हैं कि इस आनन्दवर्धन ने पूर्व से ही परिपक्व मति वाले सहृदयों के चित्त में जो सत्काव्यतत्त्व अर्थात् ध्वनितत्त्व सुषुप्तावस्था में विद्यमान था मैने उसे सहृदयों की प्रसन्नता के लिए उद्घाटित कर दिया है। इस प्रकार ग्रन्थ की पूर्णता होती है।

## 13.4 शब्दावली

**संवाद**– कवियों के विचारों की समानता, काव्य की समानता

**प्रतिबिम्बवत्**– दर्पण में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब के सदृश जब दो कवियों के काव्य में समानता होती है तो उसे प्रतिबिम्बवत्सादृश्य कहते हैं।

**आलेख्यवत्**– चित्र की भाँति जब दो कवियों के काव्य में समानता होती है तो उसे आलेख्यवत्संवाद कहते हैं।

**तुल्यदेहिवत्**– व्यक्ति के शरीर की भाँति जब काव्य में समानता होती है तो उसे तुल्यदेहिवत्संवाद कहते हैं।

**अन्यात्म**– किसी दूसरे कवि के काव्य की आत्मा के समान काव्य का होना

**तुच्छात्म**– आलेख्यवत्संवाद को तुच्छात्म कहते हैं।

**प्रसिद्धात्म**– तुल्यदेहिवत्संवाद को प्रसिद्धात्म कहते हैं

**स्फुरण**– मन मस्तिष्क में नये विचार का आना

**अनवद्य**– दोषरहित, पापरहित

## 13.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

१. ध्वन्यालोकः आनन्दवर्धनाचार्य विरचित, व्याख्याकार–आचार्य जगन्नाथपाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

२. ध्वन्यालोक व्याख्याकार– आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी

३. ध्वन्यालोक लीला संस्कृत हिन्दी व्याख्या सहित, आचार्य लोकमणि दहाल, भारतीयविद्याप्रकाशन, दिल्ली

४. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास पी.वी.काणे, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली

५. ध्वन्यालोक व्याख्याकार के.कृष्णमूर्ति, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली

६. ध्वन्यालोक व्याख्याकार–डाँ रामसागर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली

७. काव्यशास्त्रविमर्श डॉ. कृष्णकुमार, मयङ्क प्रकाशन, कनखल, हरिद्वार

८. ध्वन्यालोक व्याख्याकार– डाँ बालप्रिया टीका समन्वित, काशी संस्कृत सीरिज, वाराणसी

९. ध्वनिसिद्धान्त डाँ, राममूर्तिशर्मा, अजन्ता पब्लिकेशन्स, जवाहरनगर, नई दिल्ली

१०. ध्वन्यालोकविमर्श प्रो. माणिकगोविन्द चतुर्वेदी, अक्षरप्रकाशन, विश्वासनगर दिल्ली

११. आनन्दवर्धन लेखक– प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी, मध्यप्रदेश, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

## 13.6 बोध प्रश्न

१. संवाद किसे कहते हैं? उसके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उसके भेदों की विवेचना करें।

२. किस प्रकार की रचना दोषयुक्त नहीं होती?

३. काव्य रचना करते समय कवि को किस बात का ध्यान रखना चाहिए?

४. काव्य को अनन्तता प्रदान करने के लिए कवि को क्या करना चाहिए?